॥ ॐ तत्सत् ॥

कर्म्ममीमांसादर्शन ।

सूत्र, सूत्रका भाषानुवाद
और
भाषा भाष्य सहित ।

भारतधर्म्म सिण्डिकेट लिमिटेड द्वारा श्रीविश्वनाथ
अन्नपूर्णा दानभण्डारके लिये
प्रकाशित ।

काशी ।

सम्वत् १९८२ विक्रमीय ।

श्रीभारतधर्म महामण्डलके विषयमें जो कोई

कुछ जानना चाहें

तो

निम्नलिखित पतेसे पत्र व्यवहार करें।

प्रधानाध्यक्ष,

श्रीमहामण्डल प्रधान कार्य्यालय,

जगतगंज, बनारस

...िण्डकेट लिमिटेडके

... कुछ जानना चाहें

...तो

... पत्र व्यवहार करें—

... डाईरेक्टर,

...रतधर्म सिण्डकेट् लिमिटेड्,

स्टेशनरोड, बनारस।

श्रीकर्म्ममीमांसादर्शन ।

२१०६

सूत्र, सूत्रका भाषानुवाद और भाषाभाष्य सहित ।

भारतधर्म्म सिण्डिकेट लिमिटेड द्वारा श्रीविश्वनाथ
अन्नपूर्णा दानभण्डारके लिये
प्रकाशित ।

काशी ।

सम्वत् १९८३ विक्रमीय ।



गोपालचन्द्र चक्रवर्ती द्वारा
भारतधर्म प्रेस, काशीमें मुद्रित ।



अकुण्ठं सर्वं कार्येषु धर्मकार्य्यार्थमुद्यतम्।
वैकुण्ठस्य हि यद्रूपं तस्मै कार्यात्मने नमः॥

निवेदन।

—:*:—

अनन्त विषय-वासनाबद्ध जीवोंकी दुःखनिवृत्ति और चिर-शान्तिकी प्राप्तिके लिये अध्यात्मज्ञानके विचारके सिवाय और दूसरा कोई उपाय नहीं है। वेद तथा शास्त्रने भी इसी यथार्थ सत्य बातकी घोषणा करते हुए कहा कि—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं मिल सकती है और बिना मुक्तिके यथार्थ आनन्द भी नहीं मिल सकता है; परन्तु वह पद सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अतीन्द्रिय होनेके कारण बिना दर्शनशास्त्रके सहारेके कोई भी उस तत्त्वको अच्छी तरह नहीं समझ सकते हैं। स्थूल राज्य-से अतीत अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण सूक्ष्म राज्यरूप अनन्त पारावारके लिये दर्शनशास्त्रही एक मात्र ध्रुवताराके स्वरूप हैं। आजकल भार-तवासियोंमें स्वधर्म्ममें अविश्वास, परधर्मग्रहणमें इच्छा, सदाचार-वर्जन, वेद और पुराणोंपर अश्रद्धा, वर्णधर्म्मकी उपेक्षा, परलोक, देव देवी ऋषि-पितरोंके अस्तित्वमें सन्देह आदि जो प्रबल दोष उत्पन्न हुए हैं, यह केवल वैदिक दर्शनोंके अभाव और दार्शनिक शिक्षाके लोप होजानेसे ही हुए हैं इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

दो मञ्जील मकानके ऊपर चढ़नेके लिये जिस प्रकार नीचेके स्तरोंका अतिक्रम करके जाना पड़ता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानके उच्चतम स्तरमें आरोहण करनेके लिये ज्ञानदा, सन्न्यासदा आदि सप्तस्तर विद्यमान हैं और तदनुसार सप्तदर्शन होना भी स्वतः सिद्ध है। दूसरी ओर वेदके जब तीन काण्ड हैं, यथाः—कर्म्मकाण्ड उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, तो वैदिकदर्शनशास्त्रोंमें तीन मीमां-साशास्त्रोंका होना भी स्वतः सिद्ध है। यह सर्ववादिसम्मत सिद्धान्त है कि सप्तज्ञानभूमिके अनुसार सातवैदिक दर्शनका होना युक्ति युक्त और वेदके तीन काण्डके अनुसार तीन मीमांसा-दर्शन होना भी विज्ञानसिद्ध है।

कई सहस्र वर्षोंसे कराल कालके प्रभावसे वैदिक सप्तदर्शनों-मेंसे दैवीमीमांसा दर्शन और वैदिक कर्म्मकाण्डकी मीमांसा-का पूर्वार्द्ध यह कर्म्ममीमांसा दर्शन लुप्त हो गया था। इन दोनों दर्शनोंके अतिरिक्त और सब दर्शनसूत्र मिलते थे। भारतवासियोंका दुर्भाग्य है कि, इन दोनों लुप्त रत्नोंके लिये अभी तक किसीने कुछ भी अनुसन्धान नहीं किया; परन्तु साथही साथ आनन्दका भी विषय है कि किसी पेशशक्तिसम्पन्न महापुरुषने उपासनाकी सहायतासे इन ग्रन्थरत्नोंको उपलब्ध कर भारतधर्म सिण्डिकेटके जरियेसे प्रकाशित करके जगत्का सुमहान् स्थायी कल्याणसाधन कर दिया है। दैवीमीमांसाका प्रथम खण्ड पहलेही निकल चुका है, अवशि-ष्टांश भी शीघ्रही प्रकाशित हो जायगा और भगवान्‌की असीम कृपासे इस दर्शनका भी प्रथम खण्ड जगत्के सामने उपस्थित होगया और आगेका भी सब कुछ शीघ्र ही प्रकाशित करनेका प्रबन्ध हो गया है। केवल दैवीप्रेरणासे ही ये कार्य हुए हैं और जिन ऋषियोंकी कृपासे ये ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं उन्हींके नामसे वे प्रकाशित किये गये हैं। इस कार्यमें ग्रन्थप्रकाशकका कोई भी कर्त्तृत्व नहीं है। हां, अवश्य इसके भाष्यके प्रणयन करनेमें और शुद्धाशुद्ध निर्ण-यमें सुप्रसिद्ध विद्वानोंकी सहायता ली गई है। इन दोनों दार्श-निक सिद्धान्तग्रन्थोंके प्रकाशित होनेसे वर्त्तमान कालके श्रद्धा-रहित स्रोतका अवरोध होगा और सनातनधर्म्मके अन्तर्गत साम्प्रदायिक विरोधोंका निराकरण होकर उसके मौलिक सिद्धा-न्तोंकी पूर्ण दृढ़ता सम्पादन होगी इसमें सन्देह नहीं।

जिनके द्वारा इन सूत्रोंकी प्राप्ति हुई है उनका अनुभव यह है कि मन्त्रशक्ति, तपःशक्ति, योगशक्ति और दैवीशक्ति जिनका वर्णन शास्त्रोंमें आया है सब सत्य हैं। अब भी मनुष्य सदाचार और उपासना द्वारा नित्य पितरोंकी कृपा सुगमतासे प्राप्त कर सकता है। शरीर और मनकी पवित्रता, चित्तका तीव्रसंवेग, स्थिर धारणा और ध्यान-सिद्धि तथा द्रव्यशुद्धि, क्रियाशुद्धि और मन्त्रशुद्धि द्वारा साधक देवताओंका दर्शन अवश्य कर सकता है और अपने नाम रूपके अभिनिवेशको त्याग देने और एकतत्त्वके अभ्यासपूर्वक शर-णापन्न होनेसे नित्य ऋषियोंके दर्शन करके कृतकृत्य हो सकता है इस कारण सनातनधर्म्मियोंको निराश नहीं होना चाहिये।

यदि च पूज्यपाद महर्षि जैमिनिकृत एक कर्म्ममीमांसा दर्शन मिलता है, परन्तु वह उत्तरार्द्ध है, सम्पूर्ण नहीं है; क्योंकि उसमें केवल वैदिक यज्ञोंकी मीमांसा है और इस समयके लिये उसकी आवश्यकता अधिक नहीं है। इस समय कर्म्मके गम्भीर रहस्योंको वर्णन करने वाले कर्म्ममीमांसा दर्शनके पूर्वार्द्धदर्शनकी जिसके आविष्कारकर्त्ता पूज्यपाद महर्षि भरद्वाज हैं और जो दर्शनसिद्धान्त बहुकालसे कालके कराल ग्रासमें छिपा हुआ था, बहुत ही आवश्यकता है। इस दर्शनके चार पाद हैं, उक्त चार पादोंमें कर्म्मकाण्डके कैसे गभीर रहस्यसमूहकी दार्शनिक मीमांसा की गई है, उसका संक्षेप दिग्दर्शन कराया जाता है।

इसके प्रथम धर्मपादमें—धर्म्मका लक्षण, धर्म्मका फल, अधर्म्मका लक्षण, धर्म्मकर्म्मनिर्णयका विज्ञान, भक्ष्याभक्ष्य—स्पृश्यास्पृश्य-शुद्धाशुद्ध-मीमांसा, धर्म्मका स्वरूप, कारण और कार्यब्रह्मका स्वरूप, मानव धर्म्मका रहस्य, साधारण विशेष असाधारण और आपद्धर्म्मका लक्षण और उपयोगिता सङ्कल्पकी आवश्यकता, कर्म्मका भेद, नित्य नैमित्तिक और काम्य कर्म्मका लक्षण, त्रिविध भावानुसार कर्म्मका त्रिविधभाव और उसका लक्षण, उपासना और ज्ञानयज्ञका भेद, तपका लक्षण और भेद, दानका लक्षण और भेद, साधारण धर्म्मका विस्तृत स्वरूप वर्णन, विशेष धर्म्मका महत्त्व, पुरुष धर्म्मका लक्षण, नारीधर्म्मका लक्षण और विज्ञान, शक्तिका भेद, नारीमहिमा, आचारविज्ञान, मानसिक धर्म्म, गुणका स्वरूप, भावका स्वरूप, धर्म्मका महत्त्व, जातिधर्म्मनिर्णय, वर्णधर्म्म निर्णय, वर्णशुद्धिका उपाय, ब्राह्मणोंके भेदका विज्ञान, क्षत्रिय धर्म्म शूद्र-धर्म्म वैश्य-धर्म्म और ब्राह्मणधर्म्म विज्ञान, चक्रके सम्बन्धसे पितृमाहात्म्य वर्णन, दायभागका विज्ञान, आधिभौतिक शुद्धिका प्राधान्य और माहात्म्य, वर्णाश्रमधर्म्ममहिमा, स्त्रियोंका विवाहकाल निर्णय, नारीधर्म्मका प्राधान्य, नारीधर्मविज्ञान, सतीका भेद, सर्वोत्तम सतीका लक्षण, उत्तम मध्यम और साधारण सतीका लक्षण, विवाहविज्ञान विधवाविवाहखण्डन, स्वधर्म्मत्यागसे पतन होना, आश्रमधर्म्मविज्ञान, प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्म्म, ब्रह्मचर्य्याश्रम के प्रधान कर्त्तव्य, गृहस्थाश्रम वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रमके विज्ञान और उपयोगिता, चारों आश्रमोंका मौलिक सिद्धान्त,

वर्ण और आश्रमधर्मकी विशेष महिमा, निवृत्तिकी उत्पत्तिके विषयमें मतभेद, वेदकी महिमा, श्रुति और स्मृतिके विरोधमें श्रेष्ठताका विचार, अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रके विरोधमें श्रेष्ठताका विचार, आप्त प्रमाणका महत्त्व, आप्त पुरुषोंकी महिमा, वैदिक विज्ञानका सर्वश्रेष्ठ महत्त्व इत्यादि विषयोंपर दार्शनिक मीमांसा की गई है।

संस्कार नामक द्वितीय पादमें—कर्मबीजका स्वरूप, सृष्टिका कारण निर्णय, जीवके बन्धन और मुक्तिका कारण, त्रिविध शुद्धि और उसकी विशेषता, स्वाभाविक और अस्वाभाविक संस्कारका स्वरूप, चक्रगतिरहस्य, वैदिक संस्कारोंकी सिद्धि, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकरण, उपनयन, ब्रह्मव्रत, वेदव्रत, समावर्त्तन, विवाह, अग्न्याधान, दीक्षा, महाव्रत और संन्यास, इन षोड़श संस्कारोंका विज्ञान और विशेष विशेष फल, संस्कारशुद्धिकी विलक्षणता, पंचकोषके विकाशका रहस्य, उद्भिज्जादि योनियोंके जीवोंका आश्रयस्थल निर्णय, चित्कलाविज्ञान, उद्भिज्जादि योनियोंमें कलाओंके विकाशका तारतम्य, पूर्णकलाविकाशका रहस्य, आनन्दमयकोषकी पूर्णताका रहस्य, कलाविकाशका भेद, विलोम विवाहका निषेध, किस प्रकारकी कन्याके साथ वरका विवाह होना चाहिये, वर्णसंकरतासे क्या दोष है, उसका वैज्ञानिक और शास्त्रीय रहस्य, त्रिविध शुद्धिकी प्रयोजनीयता, आर्य और अनार्य्य जातिका लक्षण, जातिभेदप्रसङ्गसे मानवभेदप्रसङ्ग और उनकी प्रवृत्ति। आर्यजातिकी प्रतिष्ठाका हेतु, अनार्यजातिसे आर्यजातिका विशेषत्व, जाति तत्त्वका विज्ञान, नारीजातिमें स्वाभाविक संस्कारकी क्रमाभिव्यक्ति, जीवप्रवाहके अनादि और अनन्तत्वकी सिद्धि, संस्कारके क्षीण होनेका फल, संस्कारोत्पत्तिका मूलकारण, जीवोत्पत्तिके साथ संस्कारका सम्बन्ध, लिंगशरीरके साथ जीवका सम्बन्ध, भोगके साथ सूक्ष्म शरीरका सम्बन्ध, स्थूल शरीरोत्पत्तिका रहस्य, भोगके लिये स्थूल शरीरकी विशेषता, मनुष्येतर योनियोंमें जीवका गमनागमन, आतिवाहिक देहका विज्ञान, आवागमनचक्रोत्पत्तिरहस्य, त्रिविध पिण्डका रहस्य और विज्ञान, सहज और मानवपिण्डका लक्षण, संस्कारका फल, लोकान्तरगतिवर्णन, प्रेतश्राद्धकी

आवश्यकता, श्राद्धका विज्ञान, संस्कारवैचित्र्य, संस्कार परिणामका रहस्य, संस्कारसे मुक्तिका रहस्य, देशका रहस्य, महत्तत्त्वका स्वरूप, अहंकारतत्त्वका स्वरूप, ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति और विनाशका हेतुनिर्णय, गोलोकका रहस्य, ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूपी त्रिमूर्ति-विज्ञान, शब्दमयी सृष्टिका रहस्य, रूपसृष्टिका विशेषत्व, जगत्‌में नाम और रूपकी प्रधानताका कारण इत्यादि गम्भीर विषयोंकी मीमांसा इस पादमें की गई है।

क्रियापाद नामक तृतीय पादमें—क्रियाका नैसर्गिक हेतु, उसके विस्तार और विकाशका रहस्य, कर्मका साक्षात् फल, क्रियाका भेद और विज्ञान, कर्मका महत्त्व और स्वरूप, क्रियाका अधिष्ठान निर्णय, गुणोंका अन्योन्याश्रयत्व, गुणके सम्बन्धसे कर्मका स्वरूप, कर्मकी नैसर्गिक गतिका विज्ञान, कर्मका प्राकट्य और रहस्य, कर्मका नित्यत्व, कर्मका जगत्कारणत्व, कर्मका विविध स्वरूप वर्णन, प्रकृतिविज्ञानके सम्बन्धसे वर्णाश्रमकी आवश्यकता, अधिकारभेदकी आवश्यकता, जैव और ऐशकर्मका महत्त्व, चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाशके सम्बन्धसे कर्मसंग्रहका विज्ञान, प्रारब्ध-संचित-क्रियमाण भेदसे संस्कारका त्रैविध्य और प्रत्येकका लक्षण, चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाशका स्वरूप, जीवके तीनों शरीरके त्रिविध सम्बन्ध रहस्य, किन किन कर्मोंके द्वारा कौन देवता तृप्त होते हैं इसका रहस्य, कर्मप्रवाहकी विशेष विशेष गति, चेतन और जड़से कर्मका सम्बन्ध, प्राकृतिक और स्वतन्त्र रूपसे जीवके द्विविध प्रवाह, दोनोंका कार्यक्रम, सहज कर्मका प्रकृतिके अधीन होना, स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्चमें कर्मका सम्बन्ध, सृष्टि और लयका नैसर्गिकत्व, सत्त्वगुणके उदयका विज्ञान, उसका फल और धर्मके साथ उसका सम्बन्ध, कर्मका ब्रह्मस्वरूप होना, महायज्ञका लक्षण और उसके अधिकारी, यज्ञकी विशेष महिमा, कर्मके शुभ और अशुभरूपसे द्विविध भेद, सृष्टिकी द्विविध गति, शुभाशुभगतिका फल, सुख और दुःखका स्वरूप तथा व्यापकत्व, लौकिक और अलौकिकरूपसे मनुष्यकी द्विविध शक्तिका विकाश, द्वन्द्व-क्रियाविज्ञान, मनुष्ययोनिकी सुरक्षाका विज्ञान, बुद्धिका त्रिविधभेद, क्रियाका नियामक कौन है ? कर्मका सादि-सान्तत्व, देश और कालका स्वरूप और विष्णुकी तरह अनादि

अनन्तत्व, देशकालानुसार क्रियाका तारतम्य, क्रियाका परिणाम और उसका त्रिविध तथा सप्तविध भेद, भोगका स्वरूप तथा भेद, जन्मान्तर गति और उसकी विशेषता, स्थूल और सूक्ष्म शरीरका सम्बन्ध, भोगकी उत्पत्ति और स्थितिका रहस्य, भोगका अन्त कैसे होता है? व्यष्टिसृष्टिनिर्णय, कर्मविपाकका रहस्य और क्रम, समष्टि सृष्टि और उसका त्रिविध तथा सप्तविध विभाग, चतुर्दशलोकसमीक्षा, भूलोकका विस्तृत विवरण उसका भेद और महत्त्व, मृत्युलोकमहिमा, आर्य्यावर्त्तमहिमा, तीर्थमहिमा, ऋषियों-की महिमा, त्रिविध अधिकारी और त्रिविध भाव, प्रायश्चित्तके द्वारा कर्मनाशका रहस्य, ज्ञाताज्ञात पाप और पुण्यका विचार, कर्मलोक और भूलोक, धर्मयुद्धकी आवश्यकता, देवासुरसंग्राम, वेदाधिकारनिर्णय, साधारण और विशेष नियम, युक्तायुक्त कर्म-विपाकका स्वरूपनिर्णय, तपोवनका महत्त्व, वर्णाश्रमका महत्त्व, अवतारविज्ञान और कर्मका सर्वश्रेष्ठत्व आदि कर्मरहस्योंकी दार्श-निक मीमांसा की गई हैं।

मोक्ष नामक अन्तिम अर्थात् चतुर्थ पादमें—सृष्टिका मौलिक रह-स्य, ईश्वरका स्वरूपकथन, जीवका लक्षण, मोक्षका स्वरूप, बन्धन और मोक्ष दोनोंका हेतु, मुक्तिके प्रसङ्गसे सृष्टिका रहस्यवर्णन, सृष्टिका स्तर, कामका प्रभाव, कामजयका महत्त्व, स्वाभाविक वृत्तियोंका विश्लेषण, कामजनित दृश्यका गुरुत्व, कामको नष्ट करनेका उपाय, अपवर्गका विज्ञान और उसका मूलतत्त्व, व्युत्थानका हेतु क्लेशका हेतु और उससे बचनेका उपाय तथा चरमफल, संस्कारका भेद और उसका हानोपायनिर्देश, जीवन्मुक्त पुरुषोंमें कर्मकी स्थिति, चित्ताकाशके साथ प्रारब्धकर्मका और चिदाकाशके साथ क्रियमाण कर्मका सम्बन्ध, क्रियमाण कर्मकी विशेष गति और उसके भोगका स्वरूप, महाकाशके साथ सञ्चित कर्मका सम्बन्ध और उसकी गति, चतुर्विध भूतसङ्घके साथ आका-शका सम्बन्ध, कर्मके लयका विज्ञान, कर्मके भोगसे मुक्तिसमीक्षा, प्रवृत्तिधर्मसे निवृत्तिधर्मकी प्रधानता, मुक्तिका उपाय, यज्ञ और महायज्ञ इन दोनोंका फल और यज्ञशेषका महत्त्व प्रतिपादन, मुक्ति-पदका स्वरूप, प्रसंगोपात्त कर्मका विभाग, ईश्वरका ईश्वरत्व, ब्रह्मा-ण्डके विचारसे देवता और ऋषियोंका असर्वज्ञत्व और केवल

ईश्वरका ही सर्वज्ञत्व निर्णय, कार्य और कारणब्रह्मनिरूपण, अव्यक्तसे व्यक्तकी उत्पत्ति, इस दर्शनके आविर्भावका कारण और इसका माहात्म्य, दृश्यप्रपञ्चका हेतु, प्रलयका रहस्य, कालकी अवस्थाओंका स्वरूप, देशका रहस्य, देश और कालसे प्रणवका सम्बन्ध, प्रणवका विस्तृत माहात्म्य, ज्ञानी और अज्ञानियोंका भेद, निर्विकल्प समाधि, काल तथा समष्टिकर्मकी प्रतिकूलतामें चलनेपर बाधाओंकी उत्पत्तिका विज्ञान, स्वास्थ्य सिद्धि और तत्त्वज्ञानलाभ करनेका उपाय, आतिवाहिक देहकी गतिका द्विविध भेद, शुक्ला गति और उसका त्रिविध भेद, सप्तमलोकसे सूर्यमण्डलभेद करनेका उपाय, कृष्णा गतिका स्वरूप और उसका धारणानुसार त्रिविधभेद, जीवन्मुक्त गति, संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि और उससे मोक्षकी उत्पत्ति, काल-क्रिया-द्रव्यके द्वारा क्रियाशुद्धि, दानकी त्रिविध शुद्धि, कर्मयोगका स्वरूप, सङ्गीतसे मोक्षका सम्बन्ध, चतुर्विध अवस्था, आत्माके साथ तुरीयावस्थाका सम्बन्ध, त्रिविध कर्मोंके द्वारा त्रिविधमुक्ति, जीवोंकी छः प्रकारकी वृत्तियां, जीवन्मुक्तकी वृत्तियां, सप्तभेदके अनुसार कर्मोंकी सप्त अवस्थायें, चतुर्दशप्रकार जीवोंका अज्ञान और ज्ञानाधिकार निर्णय, सप्तज्ञान और अज्ञान-भूमियोंका विकाशक्रम, अधिकारभेदकी आवश्यकता, जीवन्मुक्तके त्रिविध अनुभव वर्णन, कर्मयोगका विज्ञान ज्ञानकी असम्पूर्णता होनेपर जन्मान्तरकी प्राप्ति; तत्त्वज्ञानके उदयसे मोक्षकी उपलब्धि, मोक्षकी अवस्थाका वर्णन, कर्मका हेतुनिर्णय, विश्वका विज्ञान, कालका लय, कर्मयोगसे वासनाका लय, ज्ञानका रहस्य, मुक्तिप्राप्तिके अनन्तर कर्मके वेगका स्वरूप, कर्मयोगसे पतनकी असम्भावना, उससे स्वार्थका नाश और भगवत्कार्यकी सिद्धि इत्यादि तत्त्वज्ञानात्मक विषयोंकी मीमांसा की गई हैं।

पूज्यपाद महर्षि जैमिनिप्रणीत दर्शन और यह दर्शन मिलाकर कर्म्ममीमांसा दर्शनकी पूर्ति हुई है। इसके प्रथम पादमें धर्मके यावत् रहस्य, दूसरे पादमें संस्कारके यावत् रहस्य, तीसरे पादमें कर्मके यावत् रहस्य और अन्तिम चतुर्थपादमें संस्कार शुद्धिसे क्रियाशुद्धि और क्रियाशुद्धिसे मोक्षमार्गके यावत् रहस्योंकी पूर्णरूपसे मीमांसा की गई है। अतः इसके अध्ययनसे वर्णाश्रम

धर्मावलम्बियोंके शास्त्रीय सिद्धान्तोंमेंसे किसीपर भी सन्देह रहही नहीं सकता है। वर्णाश्रमधर्मावलम्बी सिद्धान्तोंकी दृढ़ता, वेद शास्त्र और वर्णाश्रम धर्मके आचारोंपर जो जो शंकायें होती हैं उनका निराकरण, ईश्वराज्ञारूप धर्मका यथार्थ स्वरूप निर्णय, वर्ण और आश्रमधर्मकी सर्वाङ्गीन पुष्टि और सर्वसम्मत कर्म्मराज्यके गम्भीर रहस्योंकी मीमांसा होकर तत्वज्ञानके विकाशमें विशेष सहायता इन सूत्रोंके द्वारा होगी इसमें सन्देह नहीं। कर्मके अस्तित्वको पृथिवीके सब धर्मवाले ही किसी न किसी रूपमें मानते हैं, केवल उसके विस्तारित स्वरूपके विषयमें सनातनधर्मावलम्बी वैदिक-मार्ग-प्रवर्त्तक पूज्यपाद महर्षियोंने ही सब जीवोंके कल्याणके लिये विस्तारित रूपसे कहा है। सुतरां इन सूत्रोंके द्वारा सब धर्मोंके जिज्ञासुओंको बहुत कुछ सहायता मिलेगी इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हैं।

चाहे वैदिकसिद्धान्तसमूह हों चाहे स्मार्त्त, पौराणिक और तान्त्रिकसिद्धान्त समूह हों, बिना दार्शनिक मीमांसाके उनकी पुष्टि नहीं हो सकती और न विरोधिदलोंके आक्रमणका निराकरण ही हो सकता है। यही कारण है कि इस समय सनातनधर्म के आचारों और सिद्धान्तोंके ऊपर चारों ओरसे आक्रमणकी बौछार हुआ करती है। ऐसे समयमें ऐसे दार्शनिक ग्रन्थका प्रकाशन होना श्रीभगवान्‌की असीम कृपाका फल है ऐसा मानना ही पड़ेगा। यह ग्रन्थ लगभग नौ सौ सूत्रोंमें पूर्ण हुआ है। इस प्रथम पादसे अन्य पादोंमें सूत्रसंख्या अधिक है प्रत्येक पादका एक एक खण्ड अलग अलग प्रकाशित करके इस ग्रन्थको पूर्ण करनेका विचार है।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके संचालक साधु-महात्माओं और विद्वानोंकी सहायतासे दर्शनशास्त्रके प्रचारमें किस प्रकारकी सहायता हुई है और हो रही है उसका दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

(क) वैदिक उपासनाकाण्डका दैवीमीमांसा नामक मीमांसादर्शन जिसमें लगभग इतने ही सूत्र हैं, उसपर विस्तृत संस्कृत भाष्य, हिन्दीभाष्य और बंगलाभाष्य प्रस्तुत हुए हैं। हिन्दीभाष्यसहित वह ग्रन्थ पूर्णरूपसे प्रकाशित होकर हिन्दीभाषाकी पुष्टि करनेवाला है। उसका कुछ अंश छपकर प्रकाशित भी हो चुका है।

(ख) इस कर्ममीमांसादर्शनका संस्कृतभाष्य प्रस्तुत है, हिन्दी-

भाष्य क्रमशः प्रकाशित हो रहा है और बंगलाभाष्य प्रस्तुत हो रहा है।

(ग) योगदर्शनपर यद्यपि आर्षभाष्य मिलता था, परन्तु वह भाष्य आजकलके देश, काल पात्रके लिये यथेष्ट नहीं था, इस कारण योगदर्शनपर वर्त्तमान देशकालपात्रोपयोगी संस्कृतभाष्य प्रणीत हुआ है और उसके हिन्दीभाष्य और बंगलाभाष्य अलग अलग छप भी चुके हैं।

(घ) सांख्यदर्शन जो परम आस्तिक दर्शन है उसपर आर्षभाष्य न मिलनेसे और केवल जैन अथवा बौद्धधर्मावलम्बियोंका भाष्य मिलनेसे आजतक उसको नास्तिक दर्शन करके लोग मानते आये हैं। इस कारण सूत्रकार पूज्यपाद महर्षि-अनुमोदित आस्तिक तथा विस्तृत संस्कृतभाष्य और उसका हिन्दी अनुवाद प्रणीत हुआ है और हिन्दीभाष्य शीघ्र ही प्रकाशित होगा। उक्तभाष्यके प्रकाशित होनेसे अन्य धर्मावलम्बियोंने जो सांख्यदर्शनपर मिथ्या कलंक लगाया था, सो अवश्य ही दूर होगा और सांख्यदर्शन-की उपयोगिता बहुत कुछ बढ़ जायगी। कई सहस्र वर्षोंसे सांख्यदर्शनरूपी ज्ञानसूर्य्यको जो प्रमादके बादलोंने ढक रक्खा था सो दूर होकर वैदिकदर्शनकी महिमा जगत्‌में घोषित होगी।

(ङ) वेदके तीन काण्ड होनेसे तीनों मीमांसादर्शनोंपर ही वर्त्त-मान देशकालोपयोगी भाष्य होना उचित है इस कारण ब्रह्ममीमां-सारूपी वेदान्तदर्शनपर भी समन्वय भाष्य नामक भाष्य प्रस्तुत हो रहा है। जिसमें नीचेकी छः ज्ञान-भूमियों और दर्शनोंके सिद्धान्तों-के साथ सप्तम ज्ञानभूमि और वेदान्तदर्शनके मतोंका समन्वय यथाक्रम किया जायगा; जिससे आशा है कि दर्शनशास्त्रोंमें मतभेद-की जो भ्रम प्रतीति होती है सो दूर होगी। साथ ही साथ न्याय और वैशेषिक दर्शनोंपर भी विस्तृत भाष्य प्रणीत हो रहे हैं जो क्रमशः प्रकाशित होंगे।

नित्य सिद्ध सात ज्ञानभूमियोंके अनुसार वैदिकदर्शन भी सात हैं, यथाः—न्याय और वैशेषिकरूपी दो पदार्थवाद दर्शन, योग और सांख्यरूपी दो सांख्य प्रवचन दर्शन और वैदिक काण्डत्रयके अनुसार तीन मीमांसादर्शन। ये ही वैदिक सप्त दर्शन शास्त्र तथा

मासार्द्धमासानथ नक्षत्रयोगा,
नतन्द्रितश्चन्द्रमाश्चाभ्युपैति ।
अतन्द्रितो दहते जातवेदाः,
समिध्यमानः कर्म कुर्वन् प्रजाभ्यः ॥
अतन्द्रिता भारमिमं महान्तं,
बिभर्त्ति देवी पृथिवी बलेन ।
अतन्द्रिताः शीघ्रमपो वहन्ति,
सन्तर्पयन्त्यः सर्वभूतानि नद्यः ॥
हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि,
देवः शक्रः कर्मणा श्रैष्ठ्यमाप ।
वृहस्पतिर्ब्रह्मचर्य्यं चचार,
समाहितः संशितात्मा यथावत् ॥
हित्वा सुखं प्रतिरुद्ध्येन्द्रियाणि,
तेन देवानामगमद्‌गौरवं सः ।
तथा नक्षत्राणि कर्मणाऽमुत्र भान्ति,
रुद्रादित्या वसवोऽथापि विश्वे ॥

कर्मके द्वारा ही ये देवता लोग स्वर्गमें प्रकाशमान हैं। कर्मके द्वारा ही इस संसारमें वायु वहता है और कर्मके द्वारा ही अतन्द्रित भावसे दिन और रात्रिको सम्पादन करता हुआ सूर्य निरन्तर उदय होता है और चन्द्रमा निरालस्य होता हुआ मास, पक्ष, नक्षत्र एवं योगादिको प्राप्त करता है। अग्निदेव आलस्यको छोड़कर कर्म करते हुए मनुष्योंके द्वारा हवन किये जानेपर प्रजाओं-को फल प्रदान करते हैं। पृथिवी देवी आलस्यरहित हो सामर्थ्यसे इस गुरुभारको धारण करती है, तथा नदियां अतन्द्रितभावसे शीघ्र शीघ्र बहती हुई निखिल प्राणियोंको संतृप्त करती हैं। देवता-ओंके राजा इन्द्रने अपने मनकी प्रिय वस्तु तथा सुखको त्याग करके कर्महीके बलसे श्रेष्ठत्वको प्राप्त किया है। वृहस्पतिजीने संयतचित्त हो सुखको छोड़ इन्द्रियोंको रोक ब्रह्मचर्यका पालन किया इससे देवोंके मध्यमें गौरवको प्राप्त किया और नक्षत्र, विश्वेदेवा, रुद्र, आदित्य, वसु आदि सब ही कर्मके द्वारा प्रकाशित होते हैं।

कर्म्म ही जगत्का मूल है। कर्म्मसे ही ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति, स्थिति और लय हुआ करता है। "एकोहं वहुस्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुतिकी चरितार्थतामें कर्म्म ही कारण है। कारणवारि कर्म्महीका रूपान्तर है।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योम परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नभः किमासीद्गहनं गभीरम्।
न मन्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्यन्ह आसीत्प्रकेतः।
आसीदवातं स्वधया तदेकं तस्मादन्यानपरः किञ्चनास॥
कामस्तदग्रे समवर्त्तताधिमनसोरेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो वन्धुमसति निरविन्द न हृदि प्रतिष्या कवयो मनीषा।

इति श्रुतिः।

श्रुतिका तात्पर्य यह है कि, सृष्टिके पहले सत् भी नहीं था, असत् भी नहीं था, रजोगुण भी नहीं था, आकाश भी नहीं था, शोक भी नहीं था, अमृत भी नहीं था, रात्रि या दिवा कुछ भी न था परन्तु एक गहन, गम्भीर पदार्थ था जिससे अतिरिक्त दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं था। तदनन्तर उनमें वासना हुई, और उससे जगतकी सृष्टि हुई।

इस श्रुतिकी चरितार्थताका कारण भी कर्म्म है, ईश्वर रजोगुण अधिष्ठाता ब्रह्मा, सत्त्वगुण अधिष्ठाता विष्णु और तमोगुण अधिष्ठाता रुद्र होकर प्रत्येक ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति स्थिति और लय क्रिया करते हैं इसका भी कारण कर्म्म ही है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि स्थिति और लय भी कर्म्महीके द्वारा होता है। ब्रह्माण्डकी स्थितिदशामें कर्म्म ही धर्म्मरूपी होकर ब्रह्माण्डकी रक्षा करता है। कर्म्म ही जीवको उद्भिज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज योनियोंमें क्रमोन्नति कराकर देवदुर्लभ मनुष्य योनि प्राप्त कराता है और कर्म्म ही मनुष्यको अभ्युदय और निःश्रेयसका अधिकारी कराता है। कर्म्म ही मुक्तिका कारण होनेसे कर्म्मकी महिमा वेदोंमें सर्वप्रधान करके वर्णन की गई है।

जीवदशाका विकाश सर्वप्रथम होते समय कर्म्म ही जीवका साथी होता है और पूर्णज्ञानयुक्त मानव जब जीवन्मुक्त दशाको प्राप्त करके शरीरके अन्त होनेपर विदेहलयको प्राप्त करता है उस

समय भी कर्म्म ही अन्तपर्य्यन्त साथी बना रहता है, इसी कारण कर्म्मका प्राधान्य माननेवाले मुनियोंमें दो मत देखनेमें आते हैं। प्रथम दशामें रहनेवाले मुनि ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं समझते, क्योंकि वे प्रथमसे अन्तपर्य्यन्त कर्म्मकी ही शक्ति उपलब्ध कर रहे हैं, इसी सिद्धान्तको आश्रय करके पृथिवीमें जैन बौद्धादि अनेक सम्प्रदाय प्रकट हुए हैं और भविष्यत्में होंगे। ऐसा होना स्वतःसिद्ध है। कर्म्मके प्राधान्य माननेवाले मुनियोंमें जो दूसरा मत है वह सर्ववादिसम्मत है। वेदानुकूल तथा सर्वहितकारी पूर्णसिद्धान्तयुक्त मत जिसको पूज्यपाद महर्षियोंने एकमत होकर स्वीकार किया है वही कर्म्ममीमांसा दर्शनद्वारा प्रतिपादित है। कर्म्मकी पूर्णगति, कर्म्मकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवस्था, कर्म्मके बीज संस्कारकी उत्पत्ति, स्थिति और लय, कर्म्मकी जड़क्रियामें चेतनत्वकी आवश्यकता इत्यादि समाधिगम्य भावोंके समझनेवाले मुनि विना वादके ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार करते हैं, क्योंकि पूर्णदर्शन पूर्णज्ञानका सहायक है। पूर्णज्ञानमें भ्रमकी संभावना नहीं रहती।

वेदके कर्म्मकाण्डका सहायकारी और कर्म्मकी मीमांसाका प्रतिपादक ऐसे दो सिद्धान्त प्रचलित हैं, क्योंकि वेदोंमें भी क्रियाशुद्धि और संस्कारशुद्धिके लक्ष्यसे दो शैली निर्दिष्ट है। एकके द्वारा साक्षात् रूपसे बहिःशुद्धि होती है और बहिःशुद्धि होकर अन्तः शुद्धि होती है, दूसरेके द्वारा साथ ही साथ बहिःशुद्धि और अन्तःशुद्धि दोनों होती हैं। एक सिद्धान्त बहिर्योगका सहायक है और दूसरा अन्तर्योगका सहायक है। एकमें क्रियासम्बन्ध अधिक है और दूसरेमें विज्ञानका सम्बन्ध अधिक है। एकके आचार्य्य महर्षि जैमिनी, क्रतु, दक्ष, मैत्रेय आदि हैं और दूसरे सिद्धान्तके प्रकाशक महर्षि भरद्वाज, कश्यप, वशिष्ठ, वृहस्पति आदि हैं। चतुर्विंशतिमत, विज्ञानभाष्य आदि शास्त्रोंमें इसका प्रमाण मिलता है।

आचार प्रथम धर्म्म है, क्योंकि आचारके साथ स्थूलातिस्थूल शारीरिक क्रियाका सम्बन्ध है और आचारसे ही परम्परारूपसे ब्रह्मसद्भावरूपी मुक्तिपद प्राप्त होता है, कैसे वह होता है सो पूज्यपाद महर्षियोंने कहा है, यथा।

"आचारमूला जातिः स्यादाचारः शास्त्रमूलकः ।
वेदवाक्यं शास्त्रमूलं वेदः साधकमूलकः ॥
क्रियामूलः साधकश्च क्रियाऽपि फलमूलिका ।
फलमूलं सुखं देव सुखमानन्दमूलकम् ॥
आनन्दो ज्ञानमूलं च ज्ञानं वै ज्ञेयमूलकम् ।
तत्त्वमूलं ज्ञेयमात्रं तत्त्वं हि ब्रह्ममूलकम् ॥
ब्रह्मज्ञानं त्वैक्यमूलमैक्यं स्यात् सर्वमूलकम् ।
ऐक्यं हि परमेशान भावातीतं सुनिश्चितम् ।
भावातीतमिदं सर्वं प्रकाशभावमात्रकम् ॥"

अर्थात् जातिका मूल आचार है, आचारका मूल शास्त्र है, शास्त्रोंका मूल वेद है, वेदोंका मूल साधक है, साधकोंका मूल क्रिया है, क्रियाओंका मूल फल है, फलका मूल सुख है, सुखोंका मूल आनन्द है, आनन्दका कारण ज्ञान है, ज्ञानका मूल ज्ञेय है, ज्ञेय वस्तुका मूल तत्त्वानुभव है, समस्त तत्त्वोंका मूल ब्रह्म है, ब्रह्मज्ञानका मूल ऐक्यभाव है, और इस तरहका ऐक्य ही सब तरहकी साधनाओंका मूल है। वह ऐक्यभाव भावातीत होकर निखिल चराचर विश्वका भाव प्रकाशक होता है।

सदाचारसे लेकर ब्रह्मसद्भावपर्य्यन्त जो मीमांसादर्शन प्रतिपादन कर सके उसीका महत्त्व अधिक है इसमें सन्देह नहीं। सदाचारका मूलतत्त्व, संस्काररहस्य, संस्कारके प्रधान भेद, वर्णाश्रमधर्म्मका विज्ञान, स्त्रीधर्म्म और पुरुषधर्म्मका अधिकार निर्णय और उक्त दोनोंकी मूलभित्ति, नित्य नैमित्तिक और काम्य कर्म्मोंका रहस्य, युक्तकर्म्म और अयुक्त कर्म्मके भेद, धर्म्माधर्म्मका रहस्य, धर्म्म और धर्म्माङ्गके लक्षण, सामान्य धर्म्म और विशेष धर्म्मका तात्पर्य्य, कर्मसे सृष्टिका साक्षात् सम्बन्ध, जीवकी क्रमोन्नति, कर्म द्वारा जीवकी अधः और ऊर्द्धगति, परलोकवाद, जीवकी आतिवाहिक गति, संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि और क्रियाशुद्धिसे मोक्ष इत्यादि प्रधान प्रधान विषयोंका सम्बन्ध कर्ममीमांसा-दर्शनके साथ है। वर्णाश्रमधर्मकी भित्तिको दृढ़ करनेके लिये कर्ममीमांसादर्शन परम आश्रय है। ईश्वरभक्ति और आस्तिकता प्रदान करनेके अर्थ

कर्म्ममीमांसा-दर्शन परम हितकर है। नास्तिक आदि मार्गका निराकरण करके जन्मान्तरवाद सिद्ध करनेके अर्थ कर्म्ममीमांसादर्शन एकमात्र अवलम्बन है। विना कर्म्ममीमांसादर्शनके हृदयङ्गम किये दैवीमीमांसादर्शन और ब्रह्ममीमांसादर्शनका सिद्धान्त उपलब्ध नहीं हो सकता इसी कारण कर्म्ममीमांसादर्शन परम आवश्यकीय और सर्वहितकर है।

जैसे राजानुशासनके साथ राजाका सम्बन्ध है, उसी प्रकार कर्मके साथ ब्रह्मका सम्बन्ध है। ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिमें जिस प्रकार भेद नहीं है, उसी प्रकार कारण ब्रह्म और कार्यब्रह्ममें भेद नहीं है। अस्तु यदि कोई व्यक्ति राजाको साक्षात्‌रूपसे न भी माने, परन्तु राजाके राजानुशासनको यथावत् मानता है, जिस प्रकार राजा उस प्रजापर अप्रसन्न नहीं होते और यदि कोई प्रजा राजाके सामने सिर झुकानेपर भी उसके राजानुशासनकी अवज्ञा करे, तो राजदण्डकी अधिकारिणी होती है। इसी विज्ञानके अनुसार जो लोग ईश्वरको कदाचित् भ्रमसे न भी मानते हों वे कर्मके विज्ञानको यथावत् माननेपर ईश्वरकी कृपा प्राप्त करके उन्नत हो सकते हैं। ऐसे ही विज्ञानकी सहायतासे अपने अपने दर्शन-ग्रंथ प्रणयनपूर्वक और अपनी साधनशैली प्रवर्त्तित करके जैन आदि धर्मसम्प्रदाय अभ्युदयको प्राप्त करते हैं। परन्तु जो प्रजा राजानुशासन और राजा दोनोंका समान आदर करती है वह प्रजा जिस प्रकार शिक्षित और सर्वयोग्य प्रजा कहाती है, उसी प्रकार जिस दर्शन-शास्त्रमें कर्म और ईश्वर दोनोंका ही समानरूपसे विज्ञान निर्णीत है, वही दर्शनशास्त्र अभ्रान्त और पूर्ण है इसमें सन्देह नहीं।

प्रकृति त्रिगुणात्मक होनेके कारण कर्त्ता और कर्म त्रिविध होता है, यथाः—श्रीगीतोपनिषद्‌में कथित है—

"मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।।
यत्तु कामेप्सुना कर्म्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।।
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् :
मोहादारभ्यते कर्म्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।"

जो पुरुष फलकी इच्छा और अहंकारको छोड़कर धीरता और उत्साहसे कर्म करता है और कर्मकी सिद्धि और असिद्धिके विकार-का ध्यान नहीं करता, ऐसा कर्ता सात्विक कहाता है। राग करने वाला, कर्मके फलको चाहनेवाला, लोभी और हिंसा करनेवाला अपवित्र हर्ष और शोकसे युक्त ऐसा कर्ता राजसी कहलाता है। जिसका चित्त सावधान नहीं है जो विद्याहीन है; नम्रता नहीं रखता, मूर्ख है कपटी है आलसी है शोकसे काम करनेवाला है और बहुत देरमें कामको करता है ऐसा कर्ता तमोगुणी कहाता है। जो नियत अर्थात् जिसका करना आवश्यक है, कर्मफलको इच्छा रागद्वेष और ममताको छोड़कर किया जाता है वह कर्म सत्त्वगुणी है। जो कर्म कामनासे अहङ्कारसे और अत्यन्त कष्टके साथ किया जाता है वह कर्म रजोगुणी कहा है। जो कर्म अपनेको अन्तमें बन्धन करनेवाला है और हानिको देनेवाला है, जिसमें हिंसा होती है, अपने पुरुषार्थको विचार न करके मोहके वश होकर किया जाता है वह तमोगुणी कहलाता है। इसी कारण-अधिकार त्रिविध होनेके कारण वेदोंमें त्रिविध कर्मका वर्णन है। इसी विज्ञानके अनुसार वेदोक्त वैधी हिंसा भी धर्मानुकूल निर्णीत होगी।

जिस प्रकार त्रिविध कर्ता और त्रिविध कर्म होनेसे ये तीनों सात्विक राजसिक और तामसिक अधिकार स्वतन्त्र स्वतन्त्र माने जायंगे, उसी प्रकार यज्ञधर्म्म भी अवस्था और अधिकार भेदसे त्रिविध होते हैं, यथा—गीतोपनिषद्में कहा है, कि—

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञ विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेतिमनः समाधाय स सात्त्विकः ।।
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ ! तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।।

बिना फलकी इच्छा किये मनका समाधान कर और अपना अनिवार्य कर्तव्य समझकर जो यज्ञ किया जाता है वह सात्त्विक है। पर हे भरतश्रेष्ठ ! जो यज्ञ फलकी आशासे और दम्भके लिये अर्थात् नामके लिये किया जाता है वह राजस है। अशास्त्रीय रीतिसे किया हुआ, मंत्ररहित, अन्नदानरहित और श्रद्धारहित जो यज्ञ वह तामस कहाता है।

इन लक्षणोंसे यही सिद्ध होता है कि, यद्यपि सात्त्विकयज्ञ आदर्श स्थानीय और निःश्रेयसकर है, परन्तु राजसिक यज्ञ भी अभ्युदयकर है। यद्यपि हिंसारहित सात्त्विक यज्ञ सात्त्विक कर्त्ताके लिये परम-धर्म और निःश्रेयसकर है, परन्तु राजसिक कर्त्ताके लिये वह प्रकृति और अधिकारविरुद्ध होनेसे उपयोगी नहीं होगा। राजसिक कर्त्ताके लिये राजसिक यज्ञ ही परमधर्म्म और अभ्युदयकारी होगा इसमें सन्देह नहीं। राजसिक कर्त्ताके लिये हिंसात्मक राजसिक यज्ञ अभ्युदयकारी होनेके कारण वह यज्ञ उस कर्ताको मुक्तिपदमें अग्रसर करने वाला है, इसी कारण ऐसा यज्ञ ऐसे कर्त्ताके लिये परम-धर्म माना गया है। सिद्धान्त यह है कि, यद्यपि राजसिक पशुयागमें हिंसाकार्यका अशुभफल कर्त्ताको अवश्य मिलता है, परंतु तदति-रिक्त यज्ञकी साधारणप्रक्रिया द्वारा उस कर्त्ताको अपेक्षाकृत बहुत अधिक शुभ फलकी प्राप्ति होती है और भावशुद्धि द्वारा तो कर्त्ताको मंगलकी प्राप्ति होती ही है। इस कारण धर्म्मबहुल होनेके हेतु हिंसात्मक राजसिक याग ही राजसिक कर्त्ताके लिये साक्षात् रूपसे अभ्युदयकर और परम्परारूपसे निःश्रेयसकर है। इसी कारण वेदोंने वैधी हिंसाको हिंसा करके नहीं माना है।

धर्म्मका स्वरूप निर्णय करते समय पूज्यपाद महर्षि कणादने कहा है कि "यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः" अर्थात् जिससे अभ्युदय औरमुक्ति की प्राप्ति होती है उसको धर्म्म कहते हैं। सुतरां पूर्वकथित विचारानुसार यह सिद्ध होता है कि, श्येनयागादि हिंसा-त्मक निकृष्ट याग द्वारा इहलौकिक सुख और अश्वमेधादि स्वल्पहिंसा-त्मक उन्नत राजसिक याग द्वारा स्वर्गसुख आदि पारलौकिक सुख

होता है। सुखभोगके अनन्तर जो परिणाम होना सम्भव है सो दोनोंमें ही होगा। केवल स्थायी सुख परमानन्द लाभ सात्त्विक कर्म्मसे होता है। सात्त्विक कर्ता ही उसके अधिकारी हैं।

निष्काम कर्म्मयोगका अधिकार कुछ और ही है। कर्म्मयोगी निष्कामव्रतपरायण मुनिगण चाहे कोई कर्म्म करें वह उनके मुक्तिका कारण होता है; क्योंकि निष्काम कर्मयोगमें संस्कारशुद्धि पहलेसे ही हो जाती है, कारण यह है कि वासनानाश हो जानेसे संस्कारशुद्धि हो जाना स्वतःसिद्ध है और कर्म्मयोगी सदा मुक्त रहते हैं इस कारण क्रियाशुद्धि भी साथ ही साथ होती जाती है। यथा, गीतोपनिषत् में:—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्म्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः ॥

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

अर्थात् जो पुरुष कर्म्ममें अकर्म्म और अकर्म्ममें कर्म्मको देखता है वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, योगी है और सम्पूर्ण कर्म्मोंका करनेवाला है। जो मनुष्य विना फलकी इच्छाके कर्म्मोंको आरम्भ करता है और जिसके कर्म्म ज्ञानरूपी अग्निसे जल गये हैं अर्थात् भस्म हो गये हैं, विद्वान् लोग ऐसे पुरुषको पण्डित कहते हैं। कर्म्मोंके फलमें आसक्त न होकर नित्यतृप्त और निराश्रय रहता हुआ पुरुष कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता है। जिसकी कामना दूर हो गई है, जो रागद्वेषसे रहित है और जिसका चित्त ज्ञानमें स्थित है, ऐसा पुरुष जो यज्ञके निमित्त कर्म्म करता है उसके सम्पूर्ण काम लय हो जाते हैं अर्थात् उसके कर्म्मोंका फल नष्ट हो जाता है।

अतः श्रीगीतोपनिषद्में कहा है—

"यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय!।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वैः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत!।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥”

इत्यादि ।

अर्थात् यज्ञ, दान और तप यह कर्म नहीं त्यागना चाहिये,करना ही उचित है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप ज्ञानियोंको भी पवित्र करने वाले हैं। हे अर्जुन ! सिद्धि और असिद्धिमें समभाव हो जाओ और फलकी इच्छाको त्यागकर निष्काम कर्म्म करो, इसीको योग कहते हैं। कर्मको आरम्भ न करनेसे या कर्मको छोड़ देनेसे निष्काम कर्मकी सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकता है। कभी कोई एक क्षण-मात्र भी विना कर्म्म किये नहीं रह सकता है, क्योंकि प्रकृतिके गुण बेवश सबसे कर्म कराते हैं। कर्तव्यबुद्धिसे अवश्य कर्म्मोंको तुम करो, क्योंकि कर्मके न करनेसे कर्म करना श्रेष्ठ है, यदि कर्तव्यका आचरण न करोगे, तो तुम्हारे शरीरका निर्वाह भी नहीं होगा। कर्म्म करके ही जनकादि राजर्षि अन्तःकरणकी शुद्धिको प्राप्त हुए हैं। लोकसंग्रह अर्थात् औरोंके उपदेश और शिक्षाके निमित्त तुमको भी कर्म करना चाहिये। जैसे जैसे कर्म श्रेष्ठपुरुष करते हैं, वैसे वैसे ही कर्म और मनुष्यकरते हैं और जिस प्रमाणको श्रेष्ठ पुरुष मानते हैं, और मनुष्य भी उसी प्रमाणको मानते हैं। हे भारत ! जैसे अज्ञानी पुरुष फलकी इच्छासे कर्म करते हैं, वैसे ही ज्ञानी पुरुषको फलकी इच्छा त्यागकर और लोगोंकी प्रवृत्तिके निमित्त कर्म करना चाहिये। पण्डित लोग सकाम कर्मोंके त्यागको संन्यास जानते हैं, ज्ञानी लोग सब कर्मोंके फलत्यागको संन्यास कहते हैं। कोई ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि, दोषयुक्त कर्मोंको नहीं करना चाहिये और कोई कहते हैं कि, यज्ञ दान और तपके कर्म्मोंको त्याग न करना चाहिये, हे अर्जुन ! उन यज्ञादिक कर्म्मोंको कर्तव्यबुद्धिसे अवश्य करना चाहिये, परन्तु उनमें आसक्त नहीं होना चाहिये और न उनके फलकी इच्छा करनी चाहिये, यह मेरा निश्चय किया हुआ सिद्धान्त है।

नियत कर्म्म अर्थात् सन्ध्या और पञ्च यज्ञ आदि कर्म्म तुमको त्यागने योग्य नहीं हैं और जो मूर्खताके वश होकर उनका त्याग करता है, वह तमोगुणी कहलाता है। जो दुःख मानकर अथवा शरीरके क्लेशके भयसे कर्मोंका त्याग करता है, वह त्याग रजोगुणी है, त्यागका फल उसको कुछ नहीं प्राप्त होता है। हे अर्जुन! जो पुरुष निश्चत कर्मोंको इस विचारसे करता है कि, उनका करना आवश्यक है, परन्तु उनमें आसक्त नहीं होता और न फलकी इच्छा करता है ऐसा त्याग सत्त्व-गुणी है। कर्म्मोंका त्याग और कर्म्मोंका अनुष्ठान दोनों कल्याण-कारक हैं, परन्तु कर्म्मके त्यागसे कर्म्म करना श्रेष्ठ है। जो फलकी इच्छाको त्याग कर कर्म्मोंको ब्रह्ममें अर्पण करके कर्म्म करता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता है, जैसा जलसे कमलपत्र नहीं लिप्त होता है। तुमको कर्म्म करनेका ही अधिकार है, उसके फलकी इच्छा करनेका कोई अधिकार नहीं है, तुम फलकी इच्छाको लेकर कर्मकरनेवाले मत बनो और कर्मोंके न करनेकी भी इच्छा न करो।

पूज्यपाद महर्षि भरद्वाजकथित कर्म्ममीमांसाविज्ञानमें कर्म्मका पूर्णस्वरूप, कर्म्मका विस्तारित विज्ञान, कर्म्मकी विभिन्न गति आदि विस्तृत रूपसे दिखाई गई है। परन्तु पूज्यपाद महर्षि जैमिनि-कथित कर्म्ममीमांसाविज्ञानमें कर्म्मके सर्वदेशी विज्ञान नहीं दर्शाये गये हैं। इसका कारण यह है कि, पूज्यपाद महर्षि जैमिनिने अपने गुरुकी आज्ञासे केवल वेदोक्त कर्म्मकाण्डके क्रियापक्षकी पुष्टिके लिये विशेषरूपसे पुरुषार्थ किया था, ऐसा शास्त्रोंसे प्रतिपादित है। फलतः यह श्रीभरद्वाजकृत दर्शनशास्त्र परमावश्यकीय है; क्योंकि इसके अध्ययन विना कर्मविज्ञानमें जिज्ञासुका प्रवेश नहीं हो सक्ता है। इसी सिद्धान्तके अनुसार कर्ममीमांसा शास्त्रका यह दर्शन पूर्वार्द्ध और श्रीजैमिनी कृत कर्ममीमांसा उत्तरार्द्ध माना गया है। अस्तु, उक्त दोनों प्रकारके कर्म्ममीमांसाकी विज्ञानशैलीको हृदयङ्गम कर-नेसे जिज्ञासुको वेदोक्त कर्म्ममीमांसाका पूर्ण रहस्य परिज्ञात हो सक्ता है, अन्यथा नहीं हो सकता। इस कारण दोनों विज्ञान अध्ययन करना आवश्यक है।

वेद अपौरुषेय हैं, वेद अभ्रान्त विज्ञानयुक्त हैं, इसका कारण यह है कि वेद नित्य हैं। प्रलयावस्थामें वेद ज्ञानरूपसे परमात्मामें

स्थित रहते हैं और पुनः सृष्टिदशामें अलग अलग ब्रह्माण्ड, अलग अलग लोक, अलग अलग कल्प और अलग अलग देशकालपात्रमें यथा आवश्यक आविर्भूत होते हैं। जो महर्षिगण तपकी पूर्णता सम्पादन करके योगकी विशेष सिद्धिको प्राप्त करते हैं, उन्हींके समाधियुक्त अन्तःकरणमें श्रुतिरूपसे वेदोंका आविर्भाव होता है, इस कारण वेदोंमें भ्रमकी सम्भावना नहीं है। केवल मनुष्योंमें वैज्ञानिक बुद्धिकी न्यूनता होनेके कारण और अन्तर्दृष्टिका अभाव होनेके कारण प्रत्येक श्रुतिका अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी त्रिविध अर्थ मनुष्य समझ नहीं सक्ता। ज्ञानकी पूर्णता होनेसे और समाधिगम्य बुद्धिकी प्राप्ति होनेसे श्रुतियां अपने तीनों स्वरूप उस मुनिके सन्मुख प्रकट करती हैं। वेदोंमें जो परस्पर विरोधी उपदेश पाये जाते हैं, वेदोंमें जो सत्त्व, रज, तम, तीनों गुणकी क्रियायें मिलती हैं, वेदोंमें जो त्रिभावात्मक अधिकार वर्णित हैं, यह सब मनुष्योंके स्वतंत्र स्वतंत्र अधिकारके कारण ही है। सर्वाधिकारकी पूर्णता होनेके कारण उक्त लक्षणोंसे वेदकी पूर्णता ही सिद्ध होती है। सुतरां वैदिक कर्म्मकाण्ड और वेदोक्त धर्म्माधर्म्मनिर्णयके विषयमें वेदका ही स्वतः प्रामाण्य है। जिस प्रकार ब्रह्म, ईश, विराट्-रूप त्रिविधभावमें परमात्मा देखे जाते हैं, उसी प्रकार कर्म्म, उपासना और ज्ञानरूप काण्डत्रयमें वेद विभक्त हैं। धर्म्मके अन्यान्य सब अङ्ग इन्हीं तीनों अङ्गोंके अन्तर्भुक्त होनेके कारण धर्म्मके यही तीनों अङ्ग सर्वप्रधान हैं और वेदके काण्डत्रय होनेका भी यही कारण है। वेदके तीनों काण्ड ही अपने अपने अधिकारानुसार मुक्तिप्रद हैं। विशेषतः कर्म्मकी प्रधानता होनेके कारण कर्म्मकाण्डका विस्तार और कर्म्मका माहात्म्य वेदोंमें अधिक पाया जाता है। उक्त वैदिक कर्म्मविज्ञानके उदयमें सहायता देनेके अर्थ कर्म्ममीमांसा प्रधान सहायक है।

जिस प्रकार वायुकी सहायतासे जलाशयमें तरङ्ग उठती रहती है, उसी प्रकार अनादि वासनासे प्रकृतिराज्यमें कर्मकी उत्पत्ति अनादि सिद्ध है। जिस प्रकार घातप्रतिघातसे तरङ्गोंका स्वरूप अनन्त होता है, उसी प्रकार त्रिगुणके वैषम्यसे कर्मकी गति अनन्त हुआ करती है। वैषम्यावस्था प्रकृतिके साथ कर्मका स्वाभाविक

सम्बन्ध है। कार्य्यब्रह्मरूपी इस ब्रह्माण्डका एक परमाणु भी कर्म्म-सम्बन्धसे रहित नहीं है, इस ब्रह्माण्डका एक तृण भी कर्मसम्बन्धसे रहित होकर न स्थित रह सकता है और न अवस्थान्तरको प्राप्त हो सकता है। इस कारण कर्म्मकी शक्ति सर्वोपरि है। जिस प्रकार महासमुद्रके बीच बहता हुआ एक तृण यदि अनुकूल तरङ्गोंकी सहायता प्राप्त करे, तो वह तृण समुद्रतटको पहुँच सकता है, अन्यथा उसका कुछ भी पता नहीं रहता, उसी प्रकार मनुष्य यदि अनुकूल कर्मोंका संग्रह करे, तो उसकी क्रमोन्नति होकर अन्तमें मुक्ति होना अवश्यम्भावी है, और यदि ऐसा न हो, तो उसका पता नहीं रहता। सुतरां अनुकूल कर्म और प्रतिकूल कर्मके रहस्यको जानकर जो पुरुषार्थमें प्रवृत्त रहते हैं, वे ही अभ्युदयको प्राप्त होते हैं और जो तत्त्वज्ञान द्वारा कर्म, अकर्म और विकर्मकी दशाको अनुभव करनेमें समर्थ होते हैं, वे ही कर्मके बन्धनसे बचकर निःश्रेयसको प्राप्त करते हैं।

प्रकृतिस्वभावके अनुकूल और प्रतिकूलरूपी धर्म्माधर्म रहस्य, जीवके अभ्युदय और निःश्रेयसकारी धर्मके अङ्गोंका वर्णन, धर्मकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म गति आदि इस दर्शनके प्रथम पादमें वर्णित हैं। इस कारण प्रथम पादका नाम धर्मपाद रक्खा गया है। दूसरे पादमें संस्कारका विज्ञान, संस्कारके भेद और संस्कारशुद्धिके उपाय आदि वर्णित हैं। इस कारण दूसरे पादका नाम संस्कारपाद है। तीसरे पादमें संस्कार शुद्धिसे क्रियाशुद्धि और क्रियाशुद्धिके उपाय तथा भेद वर्णित हैं, इस कारण तृतीय पादका नाम क्रियापाद है और चतुर्थ पादमें क्रियाशुद्धिके फल और मोक्षका वर्णन है, इस कारण चतुर्थ पादका नाम मोक्षपाद है।

वेदके तीन काण्ड हैं—यथा कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, और ज्ञानकाण्ड, उनमेंसे प्रथम कर्मकाण्डका यह मीमांसाशास्त्र है। कर्मविज्ञानके प्रधानतः दो भेद हैं, एक सत्कर्म और दूसरा असत् कर्म अर्थात् पाप और पुण्य। पाप और पुण्य अधर्म और धर्ममूलक हैं। अधर्मका त्याग और धर्मका ग्रहण यही अभ्युदय और निःश्रेयसकारी होनेके कारण धर्मविज्ञान प्रतिपादनार्थ प्रथम पाद प्रारम्भ किया जाता है।

कर्म्ममीमांसादर्शन ।

धर्म्मपाद ।

अब धर्मजिज्ञासाका वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

'अथ' मंगलार्थ व्यवहृत होता है, तथा वह मंगलार्थ मन्त्ररूप है। प्राचीनकालसे शुभ कार्यारम्भमें मंगलाचरण करना सदाचार माना गया है। "अथ" शब्दके प्रयोगसे ही मन शुद्ध होकर ब्रह्ममें युक्त हो जाता है। ब्रह्ममें युक्त मनसे जो कार्य्य प्रारम्भ होता है, उस कार्यमें न विघ्नकी सम्भावना है और न विफलताकी सम्भावना रहती है। सब कार्योंके प्रारम्भमें मंगलाचरणकी शैली इसी कारण वेद और शास्त्रविहित है। अथ शब्दका दूसरा अर्थ अनन्तर है, अर्थात् प्रथम ज्ञानदा, द्वितीय संन्यासदा, तृतीय योगदा और चतुर्थ लीलोमुक्ति, इन चार ज्ञानभूमिके अनुसार न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य इन चार दर्शनशास्त्रोंका वर्णन करके अब पञ्चम सत्पदा नाम्नी ज्ञानभूमिके अनुसार कर्ममीमांसादर्शनका वर्णन लोककल्याणार्थ पूज्यपाद महर्षि कर रहे हैं। इस कारण यह अथ शब्द ऐसा व्यवहृत किया गया है कि, जो मङ्गलवाचक भी है और शास्त्र वर्णनशैलीके अनुकूल भी है। अस्तु ऐसा मङ्गलमय शब्द शास्त्रके प्रारम्भमें व्यवहृत हुआ है। और वेदविज्ञानमें प्रवेश विना धर्मजिज्ञासाके नहीं हो सकता। इसी हेतु धर्मजिज्ञासा कर्तव्य है, इसी अभिप्रायको लेकर महर्षिने इस सूत्रमें "अतः" शब्दका प्रयोग किया है। क्योंकि पूर्वकथित चार ज्ञानभूमियोंके विज्ञानमें अन्यान्य सिद्धान्तोंका निर्णय करके, उनके अनन्तर अब धर्मविज्ञानवर्णन करनेमें प्रवृत्त हुए हैं। अनुकूल और प्रतिकूल दो प्रकारके कर्म होते हैं। अनुकूल कर्म ही धर्म शब्दवाच्य है। प्रतिकूल कर्म अधर्म कहाते हैं। मीमांसादर्शन केवल अनुकूल कर्मके भेद, उसके अङ्गोंका वर्णन

* अथातो धर्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

और अनुकूल कर्मसे उत्तरोत्तर अभ्युदय और अन्तमें मुक्तिका विज्ञान वर्णन करता है, इस कारण प्रथम सूत्रमें "धर्म" और "जिज्ञासा" शब्द व्यवहृत हुए हैं। जिस प्रकार दाहिकाशक्ति न रहनेसे अग्निका अस्तित्व नहीं रहता, इसी प्रकार इसब्रह्माण्डके अस्तित्वके साथ धर्मका सम्बन्ध है। धर्म्माधर्मसे अतिरिक्त इस ब्रह्माण्डको अथवा ब्रह्माण्डके किसी अङ्गकी कोई सत्ता नहीं रह सकती। धर्मकी सहायतासे ही ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति, स्थिति और लय यथावत् सम्पादित होता है, अधर्मकी सहायतासे जीव अधि-काधिक अधोगतिको प्राप्त होता है, परन्तु धर्मकी ही सहायतासे जीव क्रमशः उन्नत होता हुआ अन्तमें दुर्लभ मुक्तिपदको प्राप्त कर लेता है। अतः धर्मजिज्ञासासे ही सब कुछ ज्ञात हो सकता है।

शास्त्रका प्रारम्भ करके अब प्रधान विषय प्रतिपादन करते हैं:—

धारण करता है इस कारण धर्म्म कहाता है ॥ २ ॥

अब महर्षि सूत्रकार धर्मका लक्षण कह रहे हैं। समष्टि व्यष्टिरूपी ब्रह्माण्ड पिण्डमय सम्पूर्ण सृष्टि क्रियाको धर्मने धारण कर रक्खा है, इस कारण धर्मनाम दिया गया है। यथा, श्रुति स्मृतिमें:—

धारणाद्धर्म्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥

इति स्मृतिः।

धर्म्मोविश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजाऽपसर्पन्ति धर्म्मेण पापमपनुदति धर्म्मे सर्व्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्म्मं परमं वदन्ति। इति श्रुतिः।

अर्थात् धारण करनेके कारण धर्म कहते हैं, धर्मने ही प्रजाको धारण कर रक्खा है। धारणशक्तियुक्त है इस कारण धर्म कहते हैं। धर्ममें समस्त संसारकी स्थिति है। धर्मिष्ठ मनुष्योंका ही लोग अनुसरण करते हैं। धर्मके द्वारा पाप दूर होता है, धर्ममें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है। इस कारण धर्म ही श्रेष्ठतम पदार्थ है। पूर्व संस्कारानुसार अनन्त पिण्ड ब्रह्माण्डात्मक सृष्टि क्रियाकी उत्पत्ति, स्थिति और लय यथावत् होता है, इसके यथावत् होनेकी क्रियाको

धारको धर्म्मः ॥ २ ॥

धर्महीने धारण कर रक्खा है। प्रत्येक ब्रह्माण्डके अन्तर्गत अनेक ग्रह उपग्रह आदि अपने स्थानमें उत्पन्न होकर अपने ही स्थानमें रहते हुए पिण्डरूपी अनन्त जीवदेहोंको धारण करते हुए महाकाशमें यथावत् स्थित हैं, इसका कारण धर्म्म ही है। धर्म ही जीवदेहरूपी पिण्डको उत्पत्ति, स्थिति और लयको धारण करता है। जीव प्रथम उद्भिज्ज तदनन्तर स्वेदज तदनन्तर अण्डज तदनन्तर जरायुज योनियोंके अगणितस्वरूपोंको धारण करता हुआ क्रमशः उन्नति प्राप्तकरके मनुष्ययोनिको प्राप्त करता है, इसका कारण धर्म ही है। मनुष्य क्रमशः ऐहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय प्राप्त करके क्रमशः वन्यपशुवत् भिल्ल आदिसे अन्त्यज, अनार्य्य, आर्य्य, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वेदज्ञ, तत्त्ववेत्ता, वानप्रस्थ, सन्न्यास, कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस आदि दशाको प्राप्त होकर क्रमशः धर्मकी ही सहायतासे मुक्ति पदको प्राप्त करलेता है। मनुष्यको प्रथम दशामें अभ्युदय और अन्तमें मुक्तिपद प्राप्ति करानेका कारण एकमात्र धर्म ही है। धर्म दो प्रकारके हैं–साधारणधर्म और विशेषधर्म। ब्रह्माण्ड और पिण्डकी उत्पत्ति, स्थिति और लयकी साधारण क्रियाको जो धारण करे, वह साधारणधर्म कहाता है और सृष्टिके विशेष विशेष अङ्गकी विशेष विशेषअवस्था आदिको जो धारण करे, वह विशेषधर्म कहाता है। साधारणधर्मके उदाहरणमें मनुष्यधर्म्म, जीवधर्म्म, प्राकृतिकधर्म आदिको समझ सकते हैं और विशेष धर्मके उदाहरणमें आर्य्यधर्म, अनार्य्यधर्म्म, वर्णाश्रमधर्म्म, पुरुषधर्म, नारीधर्म आदि समझ सकते हैं ॥२॥

अब जीवधर्म्मकी विशेषशक्तिका कारण अन्वेषण कर रहे हैं:—

वह सत्त्वगुणमूलक है इस कारण अभ्युदयकर है ॥३॥

जड़पदार्थ क्रमशः रजोगुणकी सहायतासे तमोगुणकी ओर अग्रसर होकर अपने अपने कारणमें लय हुआ करता है। यथाः— उद्भिज्जदेहरूपी एक काष्ठ अथवा मनुष्यका मृतदेह क्रमशः तमोऽधिकताकोप्राप्त करनेसे उक्त काष्ठ अथवा मृतशरीरके पञ्चभूतात्मक पंचश्रेणीके परमाणु क्रमशः पंचमहाभूतोंमें मिल जाते हैं।

अभ्युदयकरः सत्त्वप्राधान्यात् ॥ ३ ॥

दोनों यदि अग्निमें दाह न किये जायँ अथवा वैसेही छोड़ दिये जायँ तो कालान्तरमें उनमें यथावत् परिणाम होकर उनका पूर्ण लय हो जायगा; परन्तु चेतन जीवका लय उस प्रकारसे नहीं होता, चेतन जीवका लय सत्त्वगुणसापेक्ष है । अर्थात् क्रमशः सत्त्वगुणकी वृद्धिसे जीव यथाक्रम उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज योनियोंको प्राप्त करके मनुष्ययोनिको प्राप्त करता है । उक्त योनियोंमें सत्त्व-गुणका क्रमविकाश है और मनुष्ययोनिमें भी प्रथम दशामें ऐह-लौकिक अभ्युदय और दूसरी दशामें पारलौकिक अभ्युदय जो कुछ होता है, सो क्रमशः सत्त्वगुणकी उत्तरोत्तर वृद्धिसे ही होता है। इस कारण महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि, जीवधर्म्मकी गति सत्त्व-प्राधान्य-मूलक होनेके कारण धर्म अभ्युदयकर है । धर्म्मसे कदापि अधःपात नहीं होता, उससे क्रमशः जीवकी उन्नति ही होती है। इसी कारण स्मृतिमें कहा हैः—

> प्रकाशकत्वात्तत्त्वस्य ज्ञानहेतुत्वमीर्य्यते ।
> लघुत्वादूर्द्धनेतृत्वं सत्त्वाद्धर्म्मोहि निर्बभौ ॥

अर्थात् धर्म्म सत्त्वगुणका प्रकाशक होनेके कारण ज्ञानका हेतु है और सूक्ष्म होनेसे सत्त्वगुणके ही हेतु वह उन्नतिका कारण है॥३॥

अब धर्मकी शक्तिकी पूर्णताका वर्णन करते हैंः—

वह शक्ति-विशिष्ट है इस कारण निःश्रेयसकर है ॥ ४ ॥

धर्ममें शक्तिकी पूर्णता है, धर्म ही श्रीभगवान्‌की पूर्णशक्तिको धारण करता है । धर्म्मके बलसे ही धर्म्मका आश्रय लेकर ही जीव अनन्त योनियोंमें भ्रमण करता हुआ मनुष्ययोनिको प्राप्त करता है। माता जिस प्रकार अज्ञान बालककी रक्षा और पालन-पोषण करती है, उसी प्रकार अज्ञान जीवदशामें धर्म्म ही जीवको क्रमशः उन्नत करके मनुष्ययोनिमें पहुँचा देता है । मनुष्ययोनिको प्राप्त होकर जीव कर्तव्याकर्तव्यज्ञान-लाभ करता है । तब यह जीव अपने पिण्डका अधीश्वर हो जाता है । सुतरां उस समय वह माता, पिता, आचार्य्य आदि गुरुजन अथवा शास्त्र और वेदको सहायतासे धर्म और अधर्मका भेद समझनेमें समर्थ होता है। उस दशामें प्रथम

निःश्रेयसकरः शक्तिमत्त्वात् ॥ ४ ॥

राजानुशासन और समाजानुशासन, द्वितीयमें आचार्य्यानुशासन और वेदानुशासन तथा अन्तिम उन्नत दशामें योगानुशासन आदि अनुशासनोंकी सहायतासे अधर्म्ममार्गको छोड़कर केवल धर्म्ममार्ग-पर ही चलता है। धर्म्ममार्गपर चलनेसे धर्म्मकी सहायतासे वह क्रमशः अभ्युदय प्राप्त करता हुआ अनेक जन्मोंमें उन्नत होता है। यथा—श्रीगीतोपनिषद्में कहा है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम्॥

प्रयत्न और परिश्रमपूर्वक जो योगाभ्यास करता है, वह सब पापोंसे मुक्त होकर अनेक जन्मोंके लिये योगका फलरूप उत्तम ज्ञान प्राप्तकर उत्तम गतिको प्राप्त करता है। मनुष्यकी यह क्रमो-न्नति धर्म्मके अवलम्बनसे ही होती है, और अन्तमें सत्त्वगुणकी पूर्णताके परिणाममें दुर्लभ मुक्तिपद प्राप्त कर लेता है। अतः स्मृति-शास्त्रमें कहा है—

उन्नतिं निखिला जीवा धर्म्मेणैव क्रमादिह।
विदधानाः सावधाना लभन्तेऽन्ते परंपदम्॥

अर्थात् धर्म्मके द्वारा ही निखिल जीव क्रमशः उन्नतिको प्राप्त करते हुए अन्तमें सर्वोत्तम मुक्तिपदको प्राप्त कर लेते हैं। जीवके साथ प्रथमदशासे ही उसका कर्म्म साथी हो जाता है, उत्तरोत्तर संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि होती जाती है। उत्तरोत्तर जीव धर्म्मके उन्नततर अधिकारोंको प्राप्त करता हुआ क्रियाशुद्धिके अधि-कारोंको प्राप्त करता जाता है। मनुष्यमें जितना सत्त्वगुण बढ़ता जाता है उतना ही मनुष्य तत्त्वज्ञानलाभ करता जाता है। पूर्ण-तत्त्वज्ञानके उदय होनेपर क्रियाका अवसान हो जाता है, तब वह जीवन्मुक्त कर्म्मबन्धनसे छूट जाता है। कर्म्मबन्धन छूटते ही वे महात्मा मुक्तिपद लाभ कर लेते हैं। इन सब जीवोंकी क्रमोन्नति और मुक्तिका कारण पूर्णशक्तियुक्त धर्म्म ही है॥ ४॥

प्रसंगसे अधर्म्मका वर्णन कर रहे हैं:—

विरुद्ध क्रियाको अधर्म्म कहते हैं॥ ५॥

विना अन्धकारके देखे उजियालाका महत्त्व पूर्णरीतिसे समझमें

प्रतीपकर्म्माऽधर्मः॥ ५॥

नहीं आता, विना दुःखके पाए सुखका माहात्म्यज्ञान पूर्णरीत्या नहीं हो सकता, अतः उसी नियमके अनुसार पूज्यपाद महर्षि अधर्म्मका स्वरूप कह रहे हैं कि, विरुद्ध क्रियाको अधर्म्म कहते हैं। यहां यह शङ्का हो सकती है कि, धर्म्मवर्णनकारी शास्त्रमें अधर्म्मकी चर्चा क्यों की गई ? इसका समाधान यही है कि, विना विरुद्ध विषयके स्वरूप समझाये प्रतिपाद्य विषयकी दृढ़ता कदापि नहीं हो सकती। इस कारण इस सूत्रका आविर्भाव हुआ है, जैसे सत्त्वगुणवृद्धिकारी कर्मको धर्म्म कहते हैं, वैसे ही तमोगुणवृद्धिकारी कर्म्मको अधर्म्म कहते हैं। जिस जिस शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्म्मद्वारा तमोगुणकी वृद्धि हो, उसीको अधर्म्म कहते हैं इसी विज्ञानको जानकर पूज्यपाद महर्षियोंने अधर्म्म कार्योंका निर्णय करके अधर्म्मसे मनुष्योंको शास्त्रकी आज्ञा द्वारा बचाया है, अधर्मके लक्षणके विषयमें स्मृति-शास्त्रमें कहा है:—

श्रुतिस्मृत्युदितोधर्म्मस्त्वधर्म्मस्तद्विपर्ययः।

अर्थात् जिसका उदय श्रुतिस्मृतिसे हुआ है वह धर्म्म है, उसके विपरीत अधर्म है ॥ ५ ॥

अब उन दोनोंका शक्तिसम्बन्धसे विचार कर रहे हैं:—

शक्तिके विचारसे दोनों एक ही हैं ॥ ६ ॥

धर्म्म और अधर्म्म दोनोंकी शक्ति एक ही है; अर्थात् जिस प्रकार जीवको अभ्युदय और निःश्रेयस करानेमें धर्म्म पूर्णशक्ति विशिष्ट है, उसी प्रकार अधर्म्म जीवको अधोगति कराता हुआ जड़भूमिमें पहुँचा सकता है। धर्म्मकी सहायतासे मनुष्यशरीर, ब्राह्मणशरीर, देवशरीर, ऋषिशरीर आदि प्राप्त करके मनुष्य मुक्त हो सकता है। उसी प्रकारसे अधर्म्मके द्वारा मनुष्य नरक, प्रेतत्व, पशुत्व, तीर्यक्त्व यहांतक कि, स्थावरत्व भी प्राप्त कर सकता है ॥ ६ ॥

अधर्म्मकी अधोगतिकारिणी पूर्णशक्तिसे सदा डरना उचित है, इसलिये कहते हैं:—

अहितकर होनेसे अधर्म्म त्याग करने योग्य है ॥ ७ ॥

समौ शक्तिवैशिष्ट्यात् ॥ ६ ॥
अहितत्वाद्धेयः ॥ ७ ॥

मनुष्य जभी शरीर द्वारा अथवा मन द्वारा अधर्म-संचय करता है तभी उसकी अधोगति हो जाती है। शारीरिक अधर्म्म द्वारा आधिभौतिक अधोगति, मानसिक अधर्म्म द्वारा आधिदैविक अवनति और बुद्धिकृत अधर्म्म द्वारा आध्यात्मिक अवनति साथ ही साथ होती है। इस कारण मुमुक्षुओंको अधर्म्मसे प्रति-मुहूर्त भयभीत रहकर उसको त्याग करना उचित है ॥ ७ ॥

अब धर्म्माधर्म निर्णयका विज्ञान कहा जाता है:-

सत्त्व और तमोगुणके द्वारा धर्म्माधर्म्म निर्णय होता है ॥८।

धर्म और अधर्म दोनोंका लक्षण जानकर तथा अधर्मका हेयत्व अनुभव करके जिज्ञासुओंके चित्तमें ऐसी जिज्ञासा स्वतः ही होती है कि, धर्म तथा अधर्म इन दोनोंको सब देश, काल, पात्रमें तथा सब विषयों और क्रियाओंमें किस प्रकारसे अलग अलग पहचान सकते हैं? ऐसा सुगम उपाय क्या है जिससे क्या धर्म है और क्या अधर्म है इसका विचार कर सके? इस प्रकारको शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। सुगमताके साथ यह निर्णय होता है कि, जिन कर्म्मोंके करनेसे सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, वे धर्म कहाते हैं और जिन कर्म्मोंके करनेसे तमोगुणकी वृद्धि हो, उन्हें अधर्म कहते हैं। जिन पदार्थोंके सेवनसे सत्त्वगुण बढ़ता है उन पदार्थोंका सेवन धर्म्म, और जिनके सेवनसे तमोगुण बढ़ता है उनका सेवन अधर्म उत्पन्न करने वाला है। इसी व्यापक और सहज लक्षणके अनुसार सब कार्य्य, सब पदार्थ आदिका धर्मत्व, अधर्मत्व निर्णय किया जा सकता है। स्मृति-शास्त्रोंमें भी कहा है:—

> देवाः ! उद्भावकं सत्त्व-तमसोः कर्म कथ्यते ।
> धर्म्मः सत्त्वप्रधानत्वादधर्मस्तद्विपर्य्ययः ॥
> गूढं रहस्यं धर्मस्याऽधर्म्मस्याप्येतदेव हि ॥

अर्थात् कर्म ही सत्त्व और तमका उद्भावक होनेसे सत्त्वप्रधानता-से धर्म और तमःप्रधानतासे अधर्म कहाता है। धर्म और अधर्मका यही गूढ़ रहस्य है ॥ ८ ॥

सत्त्वतमोभ्यां धर्म्माधर्म्मनिर्णयः ॥ ८ ॥

विज्ञानकी पुष्टि की जाती हैः—

सर्वत्र ऐसा दर्शन होनेसे ॥ ९ ॥

विज्ञान कहकर तदनन्तर वेद और शास्त्रकी साक्षी देकर स्वविज्ञानकी पुष्टि की जा रही है। वस्तुतः वेद, शास्त्र, सदाचार सर्वत्र ही इसी विज्ञानके अनुसार धर्म्माधर्मनिर्णयकी व्यवस्था देखी जाती है। वेद और शास्त्रके अनुसार धर्म्म और अधर्मका सम्बन्ध मनुष्यके चलने, फिरने, उठने, बैठने, खाने, पीने आदि सब शारीरिक वाचनिक और मानसिक क्रियाओंके साथ रक्खा गया है। वेदोक्त दार्शनिक दृष्टिके अनुसार ऐसा कोई देश, काल, पात्र और न कोई ऐसी क्रिया या वस्तु है, जिसका सम्बन्ध धर्म्म अथवा अधर्मसे न हो; क्योंकि धर्म्म ईश्वरीय नियम है। यथा—स्मृति शास्त्रमें कहा हैः—

या बिभर्ति जगत् सर्वमीश्वरेच्छा ह्यलौकिकी।
सैव धर्म्मो हि सुभगे नेह कश्चन संशयः॥

अर्थात् जो ईश्वरीय अलौकिकी इच्छा जगत्को धारण और भरण करती है वही धर्म्म है। इसमें कोई सन्देह नहीं है॥ ९॥

प्रथम उदाहरण दिया जाता हैः—

भक्ष्य और अभक्ष्यमें ॥ १० ॥

वैदिक विज्ञानके अनुसार द्रव्यशुद्धिका विचार सत्त्व और तमोगुणके अनुसार हुआ करता है। पदार्थके वहिः स्वरूपके अनुसार नहीं हुआ करता। जिस पदार्थसे सत्त्वगुणका सम्बन्ध है, वह पदार्थ शुद्ध और जिस पदार्थसे तमोगुणका सम्बन्ध है, वह अशुद्ध समझा जाता है। स्मृति-शास्त्रोंमें जो भक्ष्य और अभक्ष्य पदार्थोंका निर्णय किया गया है, वह सब इसी विज्ञानके अनुसार किया गया है। पूज्यपाद महर्षियोंने अपनी योगयुक्त बुद्धि द्वारा जिन पदार्थोंको सत्त्वगुण-वर्धक समझा है, उनको भक्ष्य श्रेणीमें और जिन पदार्थोंको तमोगुणवर्धक समझा है, उनको अभक्ष्य श्रेणीमें परिगणित किया है। उदाहरणरूपसे स्मृतिशास्त्रसे कुछ प्रमाण नीचे दिये जाते हैंः—

सर्व्वत्रैवं दर्शनात्॥ ९॥
भक्ष्याऽभक्ष्ये॥ १०॥

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुकवकानि च ।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवानि च ॥
लोहितान्वृक्षनिर्यासान् वृश्चनप्रभवांस्तथा ।
शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥
वृथाकृसरसंयावं पायसापूपमेवच ।
अनूपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ॥
आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना ।
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्याणि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥
यत् किंचित् स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ।
तत् पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत् ॥
चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः ।
यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया ॥

अर्थात् लहसून, गाजर, प्याज, छाता, (कुकुरमुत्ता) और विष्ठादिजात जो पदार्थ हैं, वे सब द्विजातियोंसे अभक्ष्य हैं। लाल रङ्गका जो वृक्षरस है, छेदन करनेसे वृक्षसे जो रस निकलता है, शेलु, सद्यप्रसूता गौका प्रथम दश दिनका दुग्ध यत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिये। विकृत खिचड़ी, पायस, पीठा और संयाव, (सीरा, गुड़, गेहूँके चूरणसे जो बनता है) असंस्कृत पशुका मांस और देवताओं-के लिये जो नैवेद्य दिया जाता है उसको निवेदनके पहले नहीं खाना चाहिये। महिषको छोड़कर किसी प्रकारके वनपशुओंका दुग्ध और शुक्तादि (विकृत मधुररस) नहीं खाना चाहिये। घृतादिपक्व भोज्यद्रव्य और चरुशेष दूसरे दिनका बना हुआ होनेपर भी खा सकते हैं। यव, गोधूमचूरण, और दुग्धके विकारसे जो कुछ बनता है, वह बहुत दिनोंका बना हुआ होनेपर भी खा सकते हैं ॥ १० ॥

दूसरा उदाहरण दिया जाता हैः—

स्पृश्य और अस्पृश्यमें ॥ ११ ॥

सर्वव्यापक महाप्राण क्रियाशील है। प्राणशक्तिकी आकर्षण-विकर्षण क्रिया तथा आगम निगम क्रिया भी सर्वव्यापक है। इस

स्पृश्यास्पृश्ये ॥ ११ ॥

कारण जिस व्यक्ति अथवा जिस पदार्थमें जैसा गुण विद्यमान है, उसके संस्पर्शसे उसी गुणके साथ सम्बन्ध हो जाता है। यही कारण है कि, एक तामसिक व्यक्ति तथा एक तामसिक पदार्थको स्पर्श करनेसे उसके तमोगुणका सम्बन्ध कर्ताके साथ होना निश्चित है। और उसी प्रकार सात्त्विक व्यक्ति तथा सात्त्विक पदार्थस्पर्शके द्वारा स्पर्शकर्तामें सत्त्वगुणका आविर्भाव होना भी निश्चित है। अस्तु इसी विज्ञानको आश्रय करके पूज्यपाद धर्म्माचार्य्योंने स्पृश्यास्पृश्यका विचार शास्त्रोंमें किया है। स्मृतिशास्त्रसे दिग्दर्शनरूपसे कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात् पूर्वकृतेन वा ।
न संसर्गं व्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥
ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ।
न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्नपुंसकैः ।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ।
मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वसूर्यरश्मयः ।
रजो भूर्वायुरग्निश्च स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत् ॥

अर्थात् पूर्वजन्मकृत पापोंसे जो कि इस जन्ममें प्रायश्चित्तके योग्य हैं, जैसे क्षयरोगी कुष्ठरोगी आदि, वे यदि प्रायश्चित्त न करें, तो इनके साथ संसर्ग नहीं करना चाहिये। ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, गुरुस्त्रीगमन ये सब महापातक हैं, जो कि इन पापोंसे पापी हैं, उसके साथ संसर्ग नहीं करना चाहिये। पतित, चाण्डाल, पुल्कस (निषादसे शूद्रागर्भजात) मूर्ख, धनादिमदगर्वित, धोबी और निषादस्त्रियोंके साथ संसर्ग नहीं करना चाहिये। मक्षिका, थूंक, देहकी छाया, गौ, अश्व, सूर्यकिरणों, धूलि, पृथिवी, वायु, अग्नि, आदिको सर्वदा पवित्र समझना चाहिये ॥ ११ ॥

तीसरा उदाहरण दिया जाता है:—

शुद्ध और अशुद्धमें ॥ १२ ॥

इसी विज्ञानके अनुसार ही पदार्थोंका शुद्धाशुद्ध होनेका भी

शुद्धाशुद्धे ॥ १२ ॥

विचार किया गया है। शतशत जीवहत्या करके पदार्थ प्राप्त करने-पर भी मधु अति पवित्र समझा गया है। इसी प्रकार गोरोचन आदि पदार्थके विषयमें भी समझना उचित है, ये सब पदार्थ अति-सत्त्वगुणवर्धक होनेके कारण अत्यन्त शुद्ध माने गये हैं। दूसरी ओर पलाण्डु आदि पदार्थ पवित्र फलमूल श्रेणीके होनेपर भी तमो-गुणवर्धक होनेके कारण अशुद्ध माने गये हैं। इसी विज्ञानके अनु-सार आचार्य्योंने सब शुद्ध अशुद्ध पदार्थोंका निर्णय किया है ॥१२॥

चौथा उदाहरण दिया जाता है:—

पूजाके उपचारमें ॥१३॥

उपासनाकाण्ड और कर्म्मकाण्डके पूजाद्रव्य और उपचारद्रव्य आदिका जो विचार है वह भी इसी वैज्ञानिक भित्तिपर स्थित होकर किया गया है। पूजा उपचारके धूप, दीप, नैवेद्य आदि पदार्थोंका विचार और कर्म्मकाण्डके उपचार द्रव्य कुश, तिल, जव, घृत आदि और यहां तक कि समिधा आदिका भी, सब सत्त्वगुण वृद्धिको लक्ष्य करके ही निर्णय किये गये हैं। यदि कोई शंका करे कि, किसी विशेष उपासनाप्रणालीमें तामसिक द्रव्योंका व्यवहार होता है और इसी प्रकार मारण, वशीकरण आदि तान्त्रिकयाग तथा श्येन यागादि वैदिकयागमें तामसिक द्रव्योंका सम्बन्ध भी होता है, इसका कारण क्या है? ऐसी शंकाओंका समाधान सुगम ही है। आत्मो-न्नति और जगत्का कल्याण तथा दैवराज्यका सम्वर्द्धन जिन जिन उपासनाकार्य्यों अथवा यज्ञकार्य्योंके साथ रहते हैं वे सब सात्त्विक हैं। उनमें सात्त्विक उपचारोंका सम्बन्ध अवश्य ही रहेगा। और जिन उपासनाप्रणाली अथवा यज्ञप्रणालीके साथ अन्य जीवके अक-ल्याणका सम्बन्ध रहेगा, वे सब कार्य्य तामसिक हैं और ऐसे तामसिक कार्य्योंके साथ तामसिक उपचारोंका सम्बन्ध रहना भी स्वतःसिद्ध है ॥ १३ ॥

अब पांचवां उदाहरण दिया जाता है:—

वस्त्रके परिधानमें ॥१४॥

पूजोपचारे ॥ १३ ॥
वासोवसाने ॥ १४ ॥

पूज्यपाद महर्षि सूतमें धर्म्माधर्मकी व्यापकता सिद्ध करनेके लिये यह पंचम उदाहरण दे रहे हैं। वस्त्रका पहनना एक बहुत साधारण बात है। धर्म्म और अधर्म्मका सम्बन्ध सर्वव्यापक होनेसे ऐसे साधारण कार्य्योंके साथ भी धर्म्म और अधर्म्मका सम्बन्ध है, इस विषयको समझानेके लिये ही इस सूत्रका आविर्भाव किया गया है। प्रवृत्तिके अधिकारी गृहस्थ और निवृत्तिके अधिकारी सन्यासी होनेसे दोनों आश्रमधारी व्यक्तियोंके लिये वस्त्र स्वतन्त्र स्वतन्त्र होना उचित है। यदि संन्यासी गेरुआ वस्त्र न पहन कर सुन्दर मूल्यवान् वस्त्र पहने, तो सन्यासीके लिये अधर्म्म होगा। उसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि गृहस्थ जब अपने अपने अधिकारके अनुसार वस्त्र पहनेंगे, तो उनके लिये धर्म्म होगा। उसी प्रकार नवीन वस्त्र धारण करते समय इष्टदेवको स्मरण करके शास्त्रविधिके अनुसार वस्त्र धारण करनेसे धर्म्म होगा। यही इस सूत्रका संक्षिप्त भाव है ॥१४॥

अब धर्मकी पुष्टिके अर्थ धर्मके अधिष्ठाताका स्वरूप कह रहे हैंः—

वह सच्चिन्मय एक है ॥१५॥

धर्म विश्वधारक है; परन्तु विश्वात्मा, विश्वकी उत्पत्ति-स्थिति लयकारी, विश्वको विराट् रूपसे अपनेमें धारण करनेवाले परमात्माका स्वरूप कहा जाता है कि, वे सत्रूप हैं चित्रूप हैं और एक हैं। क्योंकि श्रीगीतोपनिषद्में कहा हैः—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

अर्थात् अविनाशी और अव्यय रूप ब्रह्मका प्रतिष्ठास्थान मैं हूँ। शाश्वतधर्म्म और ऐकान्तिक सुखका स्थान भी मैं ही हूँ। अस्ति रूपसे वे सत् हैं, इसी कारण वे नित्य और ज्ञानसत्तारूपसे वे चित्स्वरूप हैं; क्योंकि चित्सत्ताके विना विश्वके अस्तित्वकी प्रतीति हो ही नहीं सकती। वे एक और अद्वितीय हैं। परमात्माके विषयमें श्रुति यह कहती हैः—

"सच्चिदानन्दमव्ययम्"
"सच्चिदानन्दमद्वैतं सच्चिदानन्दमव्ययम्"

सच्चिदेकं तत् ॥ १५ ॥

"सच्चिदानन्दमात्रं हि सच्चिदानन्दमन्यकम्"

अर्थात् परमात्मा सच्चिदानन्दमय, अव्यय, अद्वैत और आनन्द-स्वरूप हैं ॥ १५ ॥

वे एक और अद्वितीय होनेपर भी द्वैतका भान क्यों होता है, इस शंकाका समाधान करते हैं:—

उपाधिके कारण वे द्वैतरूपसे प्रतीत होते हैं ॥ १६ ॥

कारणब्रह्मके साथ कार्य्य ब्रह्मकी द्वैत-प्रतीति, पुनः कार्य्यब्रह्मके अवस्थान्तरमें द्वैतप्रतीति, इस प्रकार सब प्रकारके द्वैतभानका कारण उपाधि है। मायारूप उपाधिसे ही अज्ञानके कारण ऐसी द्वैतप्रतीति होती है। सत्का पूर्ण विकाश उनके विराट्रूपसे होता है, चित्का पूर्ण विकाश उनके ब्रह्मरूपमें है। वास्तवमें कार्य्यब्रह्म और कारणब्रह्म एक ही है। जीवके जीवभाव प्राप्तिके साथ ही साथ रजस्तमो गुणके तारतम्यसे अज्ञानके अवस्थान्तरमें भेदभावकी प्रतीति होती है। भेदप्रतीतिका कारण अज्ञानजनित उपाधि ही है, इस कारण स्मृतिशास्त्रमें कहा है: —

ईश्वरस्य च जीवस्य भेदो ब्रह्मणि कल्प्यते ॥
मायाविद्यात्मकान्नूनं क्रमादावरणाद्द्विजाः।
ब्रह्मणः प्रतिविम्वं हि जीवोदेहाभिमानकः ॥
स्वस्मात् स्वभावतोभिन्न ईश्वरस्तेन मन्यते।
ईश्वरस्य च जीवस्य भेदोयावदुपाधितः ॥
तिष्ठेत् तावत् क्षणं विप्राः ! कथञ्चिन्न कदाचन।
जन्ममृत्युप्रवाहोऽसौ संसारो न निवर्त्तते ॥
ईश्वरे चैव जीवे च भेदबुद्धिः कदाप्यतः।
न कर्तव्या द्विजश्रेष्ठाः ! तत्त्वज्ञैरात्मवेदिभिः ॥

हे ब्राह्मणों ! ब्रह्ममें ही अविद्या और मायारूप आवरणके द्वारा जीव और ईश्वरकी भेदकल्पना की गई है। शरीरका अभिमान रखनेवाला जीव ब्रह्मका प्रतिविम्व है, वह जीव स्वभावसे ईश्वरको

भेदप्रतीतिरौपाधिकत्वात् ॥ १६ ॥

अपनेसे भिन्न समझता है। हे विप्रो! उपाधिके भेदसे जीव और ईश्वरमें जबतक भेददृष्टि रहती है, तबतक जन्ममरण प्रवाहरूप यह संसार कभी और किसी प्रकार निवृत्त नहीं होता है, इस कारणसे हे द्विजश्रेष्ठ! जीव और ईश्वरमें भेददृष्टि तत्त्वज्ञ आत्मज्ञानियोंको कदापि नहीं करनी चाहिये ॥१६॥

अज्ञान दूर होनेसे क्या प्रतीति होती है सो कह रहे हैं:—

कार्य्य और कारण सम्बन्धसे दोनों एक ही हैं ॥ १७ ॥

अज्ञान दशामें जीव कारणब्रह्मरूपी आत्मा और कार्यब्रह्मरूपी परिदृश्यमान जगत्को अलग अलग देखता है। परन्तु आत्मज्ञान-लाभ करनेके अनन्तर ज्ञानी व्यक्ति यही समझ लेता है कि, कारण और कार्यरूप होनेसे आत्मा और जगत् दोनों एक ही है। अज्ञान-जननी अविद्या और ज्ञानजननी विद्या है। तमोगुणसे अज्ञान और सत्त्वगुणके प्रभावसे ज्ञानका विकाश होता है। अज्ञान ही द्वैतप्रतीति और बन्धनका कारण है, तथा ज्ञानहीसे अद्वैत ब्रह्मसद्भावके उदय होनेपर जीव मुक्तिपदको प्राप्त कर लेता है। इस विषयको भी समझ सक्ते हैं कि, धर्म्मकी सहायतासे संस्कारशुद्धि और क्रियाशुद्धि करता हुआ साधक क्रमशः चित्तशुद्धि लाभकरके आत्मज्ञानकी प्राप्ति कर लेता है। और उसी आत्मज्ञानकी दशामें जीवन्मुक्त व्यक्तिको अभेद प्रतीति होने लगती है; तब वह अनुभव करता है कि, कारणब्रह्म और कार्य्यब्रह्म दोनों एक ही हैं। अज्ञानी व्यक्ति जब घटको देखा करता है, तो वह यही समझता है कि, घट एक स्वतन्त्र वस्तु है, परन्तु पदार्थज्ञानलाभ करनेपर वह पदार्थज्ञानमें व्युत्पन्न व्यक्ति जब यह समझ लेता है कि, मृत्तिका क्या है और मृत्तिकासे घट किस प्रकार बनता है, तब वह ज्ञानी जान जाता है कि, मृत्तिका और घट दोनों एक ही वस्तु है। इसी दृष्टान्तके अनुरूप तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त कारणब्रह्म और कार्य्यब्रह्मको अभेद दृष्टिसे देखनेमें समर्थ होते हैं यथा श्रुतिमें:—

सर्वं ब्रह्ममयं प्रोक्तं सर्वं ब्रह्ममयं जगत् ।
सर्वमात्मैव शुद्धात्मा सर्वं चिन्मात्रमद्वयम् ॥

कार्य्यकारणयोरनन्यत्वम् ॥ १७ ॥

नित्यनिर्मलरूपात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किंचन।
अणुमात्रलसद्रूपमणुमात्रमिदं जगत् ॥
अणुमात्र शरीरं वा ह्यणुमात्रमसत्यकम्।
अणुमात्रमचिन्त्यं वा चिन्त्यं वा ह्यणुमात्रकम् ॥
ब्रह्मैव सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्ममात्रं जगत्त्रयम्।
आनन्दं परमानन्दमन्यत्किंचिन्नकिंचन ॥
चैतन्यमात्रमोंकारं ब्रह्मैव सकलं स्वयम्।
आत्मनोऽन्यत्तुषं नास्ति सर्वमात्ममयं जगत् ॥
ब्रह्ममात्रमिदं सर्वं ब्रह्ममात्रमसन्न हि।
ब्रह्मणोऽन्यतरन्नास्ति ब्रह्मणोऽन्यज्जगन्न च ॥
ब्रह्मणोऽन्यत्तृणं नास्ति ब्रह्मणोऽन्यत्पदं न हि।

अर्थात् समस्त जगत् ही ब्रह्ममय है। सभी आत्मा, शुद्धात्मा, चिन्मय, अद्वैत, नित्य और निर्मल स्वरूप परमात्मा है। वह अणु-स्वरूप है और समस्त जगत् ही अणुमात्र है। शरीर भी अणुमात्र और असत्य है। वह अणुमात्र और अचिन्त्य है अथवा चिन्तनीय होनेपर भी अणुमात्र ही है। सभी चिन्मात्र ब्रह्म है। त्रिजगत् ब्रह्ममय है। परमानन्दस्वरूप परमात्माके सिवाय और कुछ भी नहीं है। ओंकार चैतन्यके स्वरूप और ब्रह्म हैं। आत्मासे सर्वश्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। सभी ब्रह्ममय है, ब्रह्मसे अलग और कोई जगत् नहीं है, ब्रह्मसे अतिरिक्त तृण भी नहीं है, सभी ब्रह्ममय है ॥ १७॥

अब कार्य्यब्रह्मका स्वरूप कह रहे हैं।

कार्य्यसम्बन्धसे कार्य्यब्रह्म कहाता है ॥ १८ ॥

व्यक्तावस्था-प्राप्त यह परिदृश्यमान जगत् ही कार्य्यब्रह्म है। तत्त्वज्ञानीको दृष्टिमें कारणदशाका सत् चित् और आनन्दभाव कार्य-दशामें भी अनुस्यूतरूपसे अनुभूत होता है। भेद इतना ही है कि, कारणब्रह्ममें एक ही भावमें सच्चिदानन्दकी समान स्थिति रहती है और कार्यब्रह्ममें उन तीनों भावोंका तारतम्य अविद्याके प्रभावसे प्रतीयमान होता है। सुतरां सच्चिदानन्दरूपी त्रिभाव कारण-

कार्य्यं कार्य्यत्वात् ॥ १८ ॥

रूपसे कारणब्रह्ममें जिस प्रकार हैं कार्य्यब्रह्मरूप जगत्‌में भी भाव-तारतम्यरूपसे विद्यमान होनेके कारण वह कार्य्यब्रह्म कहाता है। कारणब्रह्ममें सत् चित् और आनन्दरूपी त्रिभाव समभावमें सम और अद्वैतरूपसे स्थित हैं; परन्तु कार्य्यब्रह्ममें यद्यपि समष्टिविचार-द्वारा उन तीनों भावोंका अस्तित्व वैसा ही है, किन्तु व्यष्टिरूपसे व्यष्टि दृश्यमें उनका वैसा सम और अद्वैत भाव मायाके प्रभावसे प्रतीत न होनेके कारण कारणब्रह्म और कार्य्यब्रह्ममें भेदप्रतीति होती है। वास्तवमें तत्त्वज्ञानकी दशामें अज्ञानका नाश हो जानेसे दोनोंमें ही सत् चित् आनन्दभावका अनुभव जीवन्मुक्तको अनुभूत होता है ॥ १८ ॥

अब कार्य्यब्रह्मनियामिका शक्तिका वर्णन करते हैं:—

धर्म्मनियामक है इस कारण वह भगवद्रूप है ॥ १९ ॥

धर्म्म विश्वधारक है। विश्वके सृष्टिस्थितिलयके यथावत् क्रमकी रक्षा एकमात्र धर्म्मके द्वारा ही होती है। महाप्रलयके अनन्तर कारणवारिमें जो ब्रह्माण्डगोलककी उत्पत्ति होती है, उस समय ब्रह्मा, विष्णु,महेशके आविर्भावसे जो इस विश्वका प्राकट्य होता है, तदनन्तर प्रजापतियोंकी मानस सृष्टि, तत्पश्चात् जीवकी बैजी सृष्टि, यह सब कार्य्य कारणवारिमें अन्तर्निहित समष्टिसंस्कारकी धर्मशक्ति-के द्वारा ही हुआ करता है। तदनन्तर सृष्टिसे प्रलयपर्यन्त उसकी सुरक्षा और ब्रह्माण्ड तथा पिण्डकी स्थितिके सब कार्य्य धर्म्मसे ही सम्पादित होते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डरूपी सौर जगत्‌में सूर्य्यका माध्याकर्षण और सब ग्रह उपग्रहों तथा सूर्य्यलोकके आकर्षण और विकर्षण इन द्विविध शक्तिकी समता, ये सब कार्य्यके ही बलसे सुसिद्ध होते हैं। सूर्य्य, ग्रह, उपग्रह आदिमें दो शक्ति विद्यमान हैं, वे ही दोनों आकर्षण और विकर्षण शक्ति कहलाती है। यदि आकर्षण शक्तिका प्राधान्य हो, तो एक ग्रह दूसरे ग्रहमें प्रविष्ट होकर नष्ट हो जा सकता है, उसी प्रकार यदि विकर्षण शक्तिका प्राधान्य हो जाय, तो ग्रहगण अपनी अपनी कक्षासे च्युत होकर नष्ट हो जायंगे, यह धर्मकी समता उत्पन्न करनेवाली शक्तिहीका कारण है कि, ऐसा नहीं

नियन्तृत्वात्तत्त्वं धर्म्मस्य ॥ १९ ॥

होने पाता और ब्रह्माण्डका स्थितिक्रम यथावत् यथानियम चल रहा है। जिस प्रकार समष्टिरूपी ब्रह्माण्डमें स्वधर्म्मरक्षाके बलसे ही ऋषि देवता और पितरोंके द्वारा ब्रह्माण्डकी सुरक्षा हो रही है उसी प्रकार व्यष्टिरूपी पिण्डमें (जीवदेहमें) जीवकी क्रमोन्नति और मुक्ति धर्म्मके द्वारा ही हुआ करती है। ब्रह्माण्डके स्वाभाविक नियम द्वारा सृष्टिधर्म्मके अनुसार उद्भिज्जकी उत्पत्ति, उद्भिज्जसे स्वेदजयोनिमें जीवको क्रमोन्नति, स्वेदजयोनिसे अण्डजयोनिमें जीवकी क्रमोन्नति, अण्डजयोनिसे जरायुज योनिमें जीवकी क्रमोन्नति और उन्नत पशुयोनिसे मनुष्ययोनिमें जीवकी क्रमोन्नति एकमात्र समष्टि सृष्टिधर्म्मके प्रभावसे स्वतः ही हुआ करती है। धर्म्म-सत्त्वगुणवर्द्धक होनेके कारण जीवकी इन सब क्रमोन्नतियोंके साथ सत्त्वगुणका उत्तरोत्तर विकाश हुआ करता है। पुनः मनुष्ययोनिमें उत्तरोत्तर अन्त्यज, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण, कुटीचक, बहूदक, हंस परमहंस आदि दशाओंकी क्रमोन्नति एकमात्र धर्म्मके पालनसे ही होती है। एकमात्र धर्म्म ही समष्टिसृष्टि और व्यष्टिसृष्टि दोनोंके ही नियन्ता होनेके कारण वह धर्म्म भगवत्स्वरूप है। कार्य्यब्रह्मरूपी यह जगत् जब भगवद्रूप है तो उसका नियामक धर्म्म भी अवश्य ही भगवद्रूप होगा॥ १९॥

ब्रह्माण्ड-पिण्डकारकधर्मके उदयका विज्ञान बताया जाता है:—

स्थितिमूलक होनेसे रज और तमके समन्वयमें उसका विकाश होता है॥ २०॥

यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, धर्म्म सत्त्वगुणमूलक है। सुतरां जब रज और तमोगुण समभावापन्न होकर दब जाते हैं, तभी सत्त्वगुणमूलक धर्म्मका उदय होता है। इस विषयमें स्मृति-शास्त्रमें ऐसा कहा है:—

आकर्षणविशिष्टा या सा शक्ती राजसी मता।
विकर्षणेन सम्पृक्ता शक्तिर्मे तामसी तथा॥
सामञ्जस्यं प्रकुर्वाणा तयोः शक्त्योर्द्वयोरिह।
सात्त्विकी सैव धर्म्मोऽस्ति शक्तिर्मे नात्रसंशयः॥

तमोरजस्साम्ये तद्विकाशः स्थितिमूलकत्वात्॥ २०॥

आकर्षणविशिष्ट जो शक्ति है वह राजसिक शक्ति कहाती है और विकर्षणविशिष्ट शक्ति तामसिक कहलाती है और उन दोनों शक्तियोंका इस संसारमें समन्वय करनेवाली मेरी जो सात्त्विक शक्ति है वही धर्म्म है इसमें सन्देह नहीं ॥ २० ॥

विज्ञानकी पुष्टि की जाती है:—

इस कारण वह ब्रह्माण्डको धारण करनेवाला है ॥२१॥

पूर्व्व कथित विज्ञानके अनुसार एक परमाणुसे लेकर और ब्रह्माण्डपर्य्यन्त धर्म्मकी नियामिका शक्तिके द्वारा ही सब कुछ स्थित रहते हैं। परमाणुसे परमाणुका सम्बन्ध होकर सृष्टिकी अस्तित्व-रक्षा और क्या ब्रह्माण्ड क्या पिण्ड सबकी यथावत् स्थिति और सबकी क्रमोन्नति यह धर्म्मके द्वारा सम्पादित होना स्वतःसिद्ध है। इस विषयमें स्मृतिशास्त्रका मत नीचे उद्धृत किया जाता है:—

ब्राह्मणाः नयते नूनं सर्वलोकहितप्रदः ।
ब्रह्माण्डपिण्डरूपायाः सृष्टेश्च धारको महान् ॥
मानवान् धर्म एवाऽयं कैवल्याभ्युदयप्रदः ।
संरक्ष्याज्ञानभूमिभ्यो ज्ञानभूमीर्निरन्तरम् ॥
ददच्चाभ्युदयं सम्यक् सम्प्रापय्यान्तिमां क्रमात् ।
ज्ञानभूमिं ततो दत्ते निःश्रेयसमहो परम् ॥
अहमेवास्मि धर्मस्य स्थितिस्थानं द्विजर्षभाः ।
धर्माकृतिर्ममैवास्ते शक्तिरेव सनातनी ॥
विराट्सृष्टेः प्रवाहस्य धारणं कृतवत्यहो ।

हे ब्राह्मणों ! सर्वलोकहितकर, ब्रह्माण्डपिण्डात्मक सृष्टिका धारक और अभ्युदय और मुक्तिविधायक यह महान् धर्म्म ही मनुष्योंको अज्ञान भूमियोंसे बचाकर ज्ञानभूमियोंमें निरन्तर ही पहुँचा देता है और क्रमशः अभ्युदयको सम्यक् प्रदान करता हुआ अन्तिम ज्ञानभूमिमें पहुँचाकर, अहो! तदनन्तर कैवल्य प्रदान करता है। हे विप्रों! धर्मका मैं ही स्थिति स्थान हूँ और धर्म्मरूपा मेरी ही सनातनी-शक्ति, अहो! विराट् सृष्टिके प्रवाहको निश्चय ही धारण किये हुए है।

तस्माद्ब्रह्माण्डधारकः ॥ २१ ॥

परिव्याप्नोति धर्मस्य शक्तिरेषैव धारिका।
परमाणुभ्य आ नूनं पूर्णां ब्रह्माण्ड-विस्तृतिम् ॥
शक्तेः संधारिकाया मे धर्मस्यैव प्रभावतः।
सूर्य्येन्द्वादिग्रहाः सर्वे तथा नक्षत्रमण्डलम् ॥
उपग्रहादयोप्येवं विराट् देहे ममानिशम्।
स्वस्वकक्षामुपाश्रित्य भ्रमन्ते हि समन्ततः ॥
सृष्टेः रक्षाञ्च कुर्वन्ति साहाय्यं ददतो मिथः।
देवासुरेण युद्धेन दैव्याः सृष्टेः पवित्रताम् ॥
सम्पादयन्ती धर्मस्य धारिका शक्तिरुत्तमा।
प्रतिष्ठापयते देवान् स्वस्वलोकेऽसुरांस्तथा ॥
निश्चितं मातृभावेन विज्ञाः ! धर्ममयेण मे।
प्रकृतेः पालिता जीवाः पोषिताश्च निरन्तरम् ॥
उद्भिज्जात्स्वेदजं गत्वा स्वेदजादण्डजं तथा।
ततो गच्छन्त्यहो विप्राः ! अण्डजाच्च जरायुजं ॥
जरायुजाद्योनितो हि मर्त्ययोनिं गताः पुनः।
भवन्ति मोक्षमार्गस्य नूनमेतेऽधिकारिणः ॥

यही धर्म्मकी धारिका शक्ति परमाणुसे लेकर ब्रह्माण्डके विस्तार-पर्य्यन्तमें परिव्याप्त है, धर्मकी धारिका शक्तिके प्रभावसे ही सब सूर्य चन्द्रादि,ग्रहउपग्रहादि और नक्षत्रमण्डल मेरे विराट् देहमें चारों तरफ अपनी अपनी कक्षामें निरन्तर परिभ्रमण करते हैं और परस्परको सहायता देकर सृष्टिकी रक्षा करते हैं। धर्म्मकी उत्तम धारिकाशक्ति देवासुर संग्रामके द्वारा दैवीसृष्टिकी पवित्रता सम्पादन करती हुई देवता और असुरोंको अपने अपने लोकोंमें सुप्रतिष्ठित रखती है। हे विज्ञो ! मेरी प्रकृतिके धर्म्ममय मातृभावके द्वारा ही निरन्तर पालित पोषित होकर जीव, हे विप्रों! उद्भिज्जसे स्वेदज स्वेदजसे अण्डज, अण्डजसे जरायुज और जरायुजयोनिसे मनुष्ययोनिमें पहुँचकर अवश्य ही वे कैवल्यमार्ग अर्थात् मोक्षमार्गके अधिकारी बन जाते हैं।

धारिका शक्तिरेवासौ धर्म्मस्य विप्रपुंगवाः।
क्रमादुन्नमयन्ती वै मानवानुत्तरोत्तरम् ॥

कृत्वाधिकारिणो ज्ञानभूमेरन्ते च तानहो ।
कैवल्यपदवीं तेभ्यः प्रदत्ते च शनैः शनैः ॥
सर्वेषां रक्षको धर्म्मः सर्वजीवहितप्रदः ।
निखिलव्यापकश्चास्ति सर्वेभ्योऽभ्युदयप्रदः ॥

हे विप्रश्रेष्ठों ! यह धर्म्मकी धारिका शक्ति ही मनुष्योंकी क्रमशः उत्तरोत्तर उन्नति कराकर ही और अहो ! अन्तमें उनको ज्ञानभूमिका अधिकारी बनाकर शनैः शनैः कैवल्य पद प्रदान करती है। धर्म्म सर्वव्यापक सर्वजीवहितकारी सर्व-रक्षक सबको अभ्युदयप्रद और सबके हृदयमें मेरे स्वरूपका प्रकाश करनेवाला एवं साधक जीवोंको शिवत्व प्रदान कारक है ॥ २१ ॥

धर्म्मके विश्वधारक स्वरूपके अनन्तर अब प्रतिपाद्य मानव-धर्म्मका रहस्य वर्णन किया जाता है:—

विशेष, असाधारण, साधारण और आपद्‌ भेदसे मानव-धर्म्म चतुर्विध है ॥ २२ ॥

विश्वधारक धर्म्मशक्तिकी साधारणगतिके अनुसार क्या उद्भि-ज्जादि सहजपिण्डसमूह और क्या अनन्त ग्रह नक्षत्रपूर्ण अनन्त ब्रह्माण्डसमूह सब ही सुरक्षित होते हैं। उक्त विश्वधारक धर्म्म-विज्ञानका पूर्व सूत्रोंमें वर्णन करके अब पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार मनुष्यके पिण्डके उपयोगी धर्मशैलीका वर्णन कर रहे हैं। और कहते हैं कि, मानवधर्म्म चतुर्विध है, यथाः—विशेषधर्म्म, असाधा-रणधर्म्म, आपद्धर्म्म और साधारणधर्म्म । स्मृति-शास्त्रमें भी कहा हैः—

तत्सनातनधर्म्मस्य पादाश्चत्वार आसते ।
साधारणविशेषौ हि तथाऽसाधारणापदौ ॥

अर्थात् उस सनातनधर्म्मके चार पाद हैं, यथा—साधारण-धर्म्म, विशेषधर्म्म, असाधारणधर्म्म और आपद्धर्म्म ॥ २२ ॥

मानवधर्म्मश्चतुर्विधो विशेषाऽसाधारणाऽऽपत्साधारणभेदात् ॥ २२ ॥

प्रथमका वर्णन कर रहे हैं:—

अधिकारप्राधान्यहेतु विशेषधर्म्म है ॥ २३ ॥

पूर्व्व कथित धर्म्मविज्ञानकी भित्तिपर स्थित रहकर जब विशेष विशेष अधिकारीके लिये धर्म्मका निर्णय किया जाता है, उसको विशेष धर्म्म कहते हैं। आर्य जातिका धर्म्म और अनार्य्य जातिका धर्म्म ये विशेष धर्म्म हैं। वर्णाश्रमधर्म्मके त्रिलोक पवित्रकर-आचारसमूह विशेषधर्म्मके विज्ञानके अनुसार ही निर्णय किये गये हैं। नारीधर्म, पुरुषधर्म, प्रवृत्तिधर्म, निवृत्तिधर्म आदि सब विशेषधर्मके ही अंग हैं। इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें कहा है—

ब्रह्मचर्य्यञ्च दाम्पत्यं निवासो निर्जने वने।
त्यागो ह्यध्यापनञ्चैव पाठनञ्च प्रतिग्रहः ॥
धर्म्मयुद्धं प्रजारक्षा वाणिज्यं सेवनादयः।
विशेषस्यापि धर्म्मस्य सन्तीमाः खलु वृत्तयः ॥

अर्थात् ब्रह्मचर्य, दाम्पत्य, निर्जन वनवास, त्याग, पाठन, पठन, प्रतिग्रह, प्रजापालन, धर्मयुद्ध, वाणिज्य सेवा आदिमें विशेषधर्मकी ही वृत्तियां हैं। विशेषधर्मका रहस्य इतना ही है कि, विशेष धर्म-सबके लिये हितकर नहीं होता है। संन्यासधर्मका कामिनीकांचन-त्याग गृहस्थके लिये अधर्म है। उसी प्रकार गृहस्थधर्म संन्यासीके लिये अधर्म होगा ॥ २३ ॥

दूसरेका वर्णन किया जाता है:—

शक्तिप्राधान्यहेतु असाधारणधर्म्म है ॥ २४ ॥

पूर्व्व जन्मके संस्कारसे अथवा असाधारण तप अथवा योग-बल आदिके द्वारा असाधारण शक्तिको लाभ करके तब कोई व्यक्ति असाधारण धर्मका अधिकारी हो सकता है। इसके उदाहरणमें महर्षि विश्वामित्रका ब्राह्मण होना और द्रौपदीके पंचपति होकर सतीत्वकी रक्षा करना समझा जाय। असाधारण तपःशक्ति द्वारा

अधिकारप्राधान्यहेतुको विशेषधर्म्मः ॥ २३ ॥
शक्तिप्राधान्यनिमित्तोऽसाधारणधर्म्मः ॥ २४ ॥

महर्षि विश्वामित्रका एक ही जन्ममें क्षत्रियधर्मसे ब्राह्मणधर्मको प्राप्त कर लेना और असाधारण योगशक्ति द्वारा रानी द्रौपदीके पांच पति होनेपर भी मनोवल द्वारा सतीत्वधर्मकी रक्षा करनेमें समर्थ होना, ये सब असाधारणधर्मके विज्ञानके प्रकाशक हैं। इस धर्मकी विशेषता यह है कि, इसमें दैवीशक्तिकी आवश्यकता होती है। स्मृतिशास्त्रोंमें भी कहा है:—

यदा कश्चिद्विशेषस्तु धर्मः शक्तिमवाप्नुयात्।
अधिकां भावसंशुद्ध्या कोटिं साधारणस्य सः॥
असाधारणधर्मस्याधिकारं लभते वहन्॥

अर्थात् जब कोई विशेष धर्म भावशुद्धिके द्वारा अधिक शक्ति-लाभ करे तब वह साधारणधर्म्मकी कोटिमें पहुँच कर असाधारण-धर्म्मके अधिकारको प्राप्त करता है॥ २४॥

तीसरा कहा जाता है:—

आपत्तिमूलक आपद्धर्म्म है॥ २५॥

आपत्काल उपस्थित होनेपर जो अधर्म्म कार्य्य धर्म्मकार्य्य-रूपसे करनेमें आता है उसको आपद्धर्म्म कहते हैं। भावशुद्धिके द्वारा ही इस धर्म्मकी सिद्धि होती है। केवल आपत्कालके लिये ही यह धर्म्म विहित है। इसका विज्ञान तथा उदाहरण स्मृतिशास्त्र-से नीचे दिया जाता है:—

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः।
स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम्॥
देशभंगे प्रवासे वा व्याधिषु व्यसनेष्वपि।
रक्षेदेव स्वदेहम्वै पश्चात् धर्मं समाचरेत्॥
येन केन च धर्मेण मृदुना दारुणेन च।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत्।
आपत्कालेतु संप्राप्ते शौचाचारं न चिन्तयेत्।
स्वयं समुद्धरेत् पश्चात् स्वस्थोधर्मं समाचरेत्॥

जो द्विज अनापत् कालमें आपद्धर्मका आचरण करते हैं, वे

आपन्मूलक आपद्धर्म्मः॥ २५॥

परलोकमें उस कर्मका फल नहीं पाते हैं। देशमें विप्लव या दुर्भिक्ष आदि उत्पन्न होनेसे अथवा महामारी या अन्य किसी प्रकार आपत्-की उत्पत्ति होनेसे पहले शरीरकी रक्षा करके पश्चात् धर्मानुष्ठान करे। जिस किसी तरहके धर्मसे हो अपनी रक्षा करके फिर समर्थ होकर धर्मानुष्ठान करे। आपत्कालमें शौच, आचार आदिके विषयमें कुछ भी चिन्ता न करे और आपत्से अपनेको बचाकर धर्मसाधन किया करे। आपत्कालका जो धर्म है उसीको आपद्धर्म कहा जाता है ॥ २५ ॥

प्रसंगसे शंकाका समाधान कर रहे हैं:—

आपद्धर्म्ममें भावशुद्धिके कारण अधर्म्म भी धर्म्म हो जाता है ॥ २६ ॥

आपद्धर्म्म वहिः स्वरूपसे अधर्म्मवत् ही प्रतीत होता है अतः अधर्म्मवत् प्रतीत होने वाला जो आपद्धर्म्म है उसकी धर्म्म-संज्ञा कैसे हो सकती है ? इस प्रकारकी शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। इस विषयका विज्ञान स्मृति-शास्त्रमें ऐसा कहा है:—

भावतत्त्वस्य विज्ञानं पूर्णरूपेण वेदितुम्।
अन्तःकरणविज्ञानस्वरूपं वच्मि वोऽग्रतः ॥
मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तमेतच्चतुर्विधम्।
अन्तःकरणमस्तीति वित्त यूयं पितृव्रजाः ॥
मनसोऽन्तर्विभागोऽस्ति चित्तं चाऽहंकृतिर्धियः।
मायापाशैर्दृढैर्बद्ध्वा योपित् संसारगोचरम् ॥
यथा संसारिभिर्जीवैः कार्यं कारयतेऽनिशम्।
तथा चित्तं मनोबुद्धिमहंकारो नियम्य च ॥
कार्य्यं कारयते शश्वन्नानावैचित्र्यसंकुलम्।
संस्कारानुचरा जीवाः वर्त्तन्ते सर्वथा खलु ॥
वासनोत्पन्नसंस्कारा अभिबध्नन्ति प्राणिनः।
आसक्तिरेव मूलञ्च बन्धनस्यास्य कारणम् ॥

तत्राऽधर्म्मोऽपि धर्म्मो भावशुद्धिमत्वात् ॥ २६ ॥

संस्कारो वासनाजन्यः संस्कारात् कर्म्म जायते ।
वासनोत्पद्यते भूयः कर्म्मणो नात्र संशयः ॥
वासनायाः पुनर्विज्ञाः संस्कारो जायते ध्रुवम् ।
सदैवं वासनाचक्रं जीवानाञ्च गतागतम् ॥
घूर्णायमानमस्तीह चक्रनेमिर्यथा रथे ।
पूर्वजन्मार्जिता यादृक् कर्मसंस्कारसन्ततिः ॥
एतज्जन्मकृतानां वा कर्मणां यादृशी स्मृतिः ।
अंकिता जीवचित्ते स्यादासक्तिः स्याद्धि तादृशी ॥
तदासक्त्यनुरूपेषु विषयेषु निरन्तरम् ।
प्रसज्जन्तेऽभितो जीवाः तदासक्त्यनुसारतः ॥
आसक्तिश्चित्तसाहाय्यान्मनस्युत्पद्यते ध्रुवम् ।
दम्पत्योः संगमाल्लोके मनश्चित्तस्वरूपयोः ॥
आसक्तेर्जायते जन्म नात्र कार्य्या विचारणा ।
प्रजातन्तुं यथा पुत्रः संरक्षँल्लभते पितुः ॥
तस्याधिकारमासक्तिर्विभ्राणा विषयांस्तथा ।
सृष्टिं वर्द्धयते शश्वदिह दैवीञ्च मानवीम् ॥
बुद्धिराज्यस्य सिद्धान्तमपरं वित्त किन्त्वहो ।
बुद्ध्यहंकारसंयोगात् भावतत्त्वोदयो भवेत् ॥
भावोऽपि द्विविधो ज्ञेयः शुद्धाऽशुद्धप्रभेदतः ।
भावोऽशुद्धस्तयोर्बुद्धिं विधत्ते विषयाकृतिम् ॥
शुद्धो भावः क्रमाच्चित्तं कुर्वाणो निर्मलं तथा ।
बुद्धिं ब्रह्मपदं नूनं नयच्छान्तिं प्रयच्छति ॥
नन्वासक्तेर्वशा जीवा अथवा भावनोदिताः ।
एतत्तत्त्वद्वयस्यैव साहाय्यात् कर्म कुर्वते ॥
कायिकं वाचिकं चैव तथा मानसमेव च ।
आसक्तौ किन्तु वैवश्यं भावे स्वातन्त्र्यमस्ति ह ॥
आनन्त्याद्विषयाणान्तु बहुशाखा समन्विता ।
आसक्तिर्विद्यते नूनं शुद्धो भावो न तादृशः ॥

एकाद्वैतदशां नेतुमीष्टेऽसौ नात्र संशयः।
यतो ब्रह्मपदं विज्ञाः विद्यतेऽद्वैतमेव हि॥

आसक्त्या कार्य्यकर्त्तारो जीवाः प्रारब्धयोगतः।
श्रीगुरोर्देवतानां वा प्रसादादेव सर्वथा॥

पाशतुल्याद्धि विषयात् स्वान्निवर्त्तयितुं क्षमाः।
अन्यथा विषये तेषां प्रसक्तिस्तत्र निश्चिता॥

किन्तु शुद्धस्य भावस्य साहाय्यात् कार्यकारिणः।
भाग्यवन्तो न सज्जन्ते विषयेषु कदाचन॥

उत्तरोत्तरमेतेषां सर्वथोर्ध्वगतिर्भवेत्।
संगृहीता हि संस्काराः पूर्वजन्मनि यादृशाः॥

आसक्तिस्तादृशी जीवे प्रादुरेष्यति निश्चितम्।
तस्या एवानुसारेण जीववर्गो जनिष्यते॥

हेयोपादनताज्ञानं नास्ति कोऽप्यत्र संशयः।
असत्यमपि सत्यं स्यात् प्रोक्तं जीवहिताय वै।
अधर्मो जायते धर्म्मः पशुहिंसा यथाऽध्वरे॥

यात्येवं भावसम्बन्धाच्चैतन्यं जड़तामिह।
सत्यं मिथ्या भवेद्धर्म्मो जायतेऽधर्म्मरूपभाक्॥

भावशुद्धिसमायुक्तमसत्कर्म्माप्यतो ध्रुवम्।
आपद्धर्मे भजत्येव सद्धर्म्मत्वं न संशयः॥
विधत्तेऽदश्च जीवानां मंगलं परमं सदा।
गतिः सूक्ष्माऽस्ति धर्मस्य भवन्तोऽतः पितृव्रजाः॥

कुर्य्युश्चेत् कर्म्म मच्चित्ता भावशुद्धिपुरःसरम्।
अधिकुर्य्युस्तदावश्यं पूर्णं धर्म्मं सनातनम्॥

मन्त्राणां प्रणवः सेतुर्यथामन्त्रच्युतिं किल।
अपनोद्याशु सम्पूर्णां दत्ते मन्त्राधिकारिताम्॥

तथैव भावसंशुद्ध्या शक्तिर्धर्म्मस्य धारिका।
संतिष्ठते सदाऽक्षुण्णा नितरामूर्द्ध्वगामिनी॥

कदाचिदत एवालमापद्धर्म्मस्य निर्णये ।
अधर्म्मेणापि धर्मस्य स्वरूपे परिणम्यते ॥

भावतत्त्वके विज्ञानको पूर्णरूपसे स्पष्ट करनेके अर्थ अन्तःकरण विज्ञानका स्वरूप आप लोगोंके समीप कहता हूं। हे पितृगण! अन्तःकरणके चार भेद हैं, ऐसा आप लोग जाने, जैसे–मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। चित्त मनका अन्तर्विभाग है और अहंकार बुद्धिका अन्तर्विभाग है। संसारी जीवोंको जिस प्रकार स्त्री दृढ़ मायारज्जुओंसे बांधकर उनसे अहर्निश संसारका कार्य कराती है, उसी प्रकार चित्त मनको और अहंकार बुद्धिको नियमन करके निरन्तर नाना वैचित्र्यपूर्ण काम कराया करते हैं। जीव सर्वथा ही संस्कारोंके दास हैं। वासनासे उत्पन्न संस्कार जीवोंको जकड़ रखते हैं। आसक्ति ही इस बन्धनका मूल कारण है। वासनासे संस्कार होता है, संस्कारसे कर्म्म होता है, कर्म्मसे पुनः वासना उत्पन्न होती है, हे विज्ञों! वासनासे पुनः संस्कार ही उत्पन्न होता है। इस संसारमें इस प्रकारसे वासनाका चक्र और जीवका आवागमन रथमें चक्रनेमिके समान सदा घूर्णायमान रहता है। पूर्वजन्मार्जित कर्मसंस्कारसमूह अथवा इस जन्मके कर्म्मकी स्मृति जैसी जीवके चित्तमें अंकित रहती है, उसी प्रकारकी आसक्ति हुआ करती है, उसी आसक्तिके अनुसार जीव उसी आसक्तिसम्बन्धीय विषयोंमें निरन्तर चारों ओरसे जकड़े रहते हैं। आसक्ति चित्तकी सहायतासे मनमें ही उत्पन्न होती है। मन और चित्तरूपी स्त्री–पुरुषके संगमसे संसारमें आसक्तिका जन्म होता है। इसमें विचार नहीं करना चाहिये। पुत्र जिस प्रकार पिताके प्रजातन्तुकी रक्षा करके पिताके अधिकारको प्राप्त होता है, उसी प्रकार आसक्ति इस संसारमें विषयोंको धारण करती हुई दैवी और मानवी सृष्टिको विशेषरूपसे अग्रसर करती है। अहो! किन्तु बुद्धिराज्यका सिद्धान्त और है, ऐसा जानो। अहंकार और बुद्धिके संगमसे भावतत्त्वका उदय होता है। शुद्ध और अशुद्ध भेदसे भाव भी द्विविध है सो जानो। उनमेंसे अशुद्ध भाव बुद्धिको विषयवत् कर देता है और शुद्धभाव क्रमशः अन्तःकरणको मलरहित करता हुआ बुद्धिको ब्रह्मपदमें पहुँचा कर ही शान्ति प्रदान करता है। जीव या तो आसक्ति

के वशीभूत हो या भावप्रणोदित होकर ही इन्हीं दो तत्त्वोंकी सहायतासे ही शारीरिक, वाचनिक और मानसिक कर्म करते हैं। आसक्तिमें विवशता है, परन्तु भावमें स्वाधीनता है। आसक्ति बहुशाखायुक्त ही है, क्योंकि विषय अनन्त हैं; परन्तु शुद्ध भाव वैसा नहीं है, वह एक अद्वैत दशाको प्राप्त करा सकता है, इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि हे विज्ञों ! ब्रह्मपद अद्वैत ही है। आसक्तिसे काम करनेवाले जीव सर्वथा प्रारब्धकी सहायता, श्रीगुरुदेवकी कृपा या देवताओंकी कृपासे ही पाशतुल्य विषयोंसे अपनेको बचा सक्ते हैं, नहीं तो उसमें उनका फँसना निश्चित है; परन्तु शुद्धभावकी सहायतासे कर्म्म करनेवाले भाग्यवान् विषयोंमें कदापि नहीं फँसते हैं। उत्तरोत्तर उनकी सर्वथा ऊद्ध्र्वगति होती रहती है। जीवने पूर्व जन्ममें जैसे संस्कार संग्रह किये हैं, उसीके अनुसार उसमें आसक्ति प्रकट होगी और उसी आसक्तिके अनुसार जीवोंमें हेय और उपादेयका विचार उत्पन्न होगा इसमें कुछ सन्देह नहीं है। कभी मिथ्या भी सत्य हो जाता है, जो कि जीवोंके हितके लिये ही कहा गया है। अधर्म धर्म हो जाता है, यथा—यज्ञमें पशुहिंसा। इस प्रकार इस संसारमें भावके सम्बन्धसे चैतन्य जड़, सत्य असत्य और धर्म अधर्म हो जाता है। इसी कारण भावशुद्धियुक्त असत् कर्म भी आपद्धर्ममें निःसन्देह सद्धर्मरूपमें परिणत होकर ही जीवोंके लिये सदा परम मंगल विधायक होता है। धर्मकी गति सूक्ष्म है, अतः हे पितृगण ! आप सब भाव शुद्धि पूर्वक मद्गत चित्त होकर यदि कर्म करोगे, तो अवश्य सनातन धर्मके पूर्णाधिकार को प्राप्तकर सकोगे। जिस प्रकार प्रणव मन्त्रोंका सेतु है, वह मन्त्रोंमें किसी प्रकार कोई त्रुटी रहनेसे उसको शीघ्र ही दूर करके मन्त्रको पूर्णाधिकार प्रदान करता है, उसी प्रकार भावशुद्धि द्वारा सदा धर्मकी उद्ध्र्वगामिनी धारिकाशक्ति सम्पूर्ण रूपसे अक्षुण्ण बनी रहती है। इसी कारण आपद् धर्मके निर्णय करनेमें कभी कभी अधर्म्म भी धर्मरूपमें परिणत हो जाता है ॥ २६ ॥

इस धर्मकी उपयोगिता कही जाती है:—

विरुद्धकालमें यह आश्रय है ॥ २७ ॥

अयमाश्रयः कालाऽन्यथाभावे ॥ २७ ॥

जब आपद्धर्ममें अधर्म ही धर्म होता है, ऐसा विचार निश्चय हुआ, तो यह शंका हो सकती है कि, इस प्रकारके विचित्र धर्म्म सिद्धान्तकी आवश्यकता क्यों होती है? और कैसे होती है? जिज्ञासुओंकी इस शंकाके निवारणार्थ इस सूत्रका आविर्भाव हुआ है। आपत्काल उपस्थित होनेपर जब विशेषधर्मका साधन असम्भव हो जाता है, उस समय इस धर्मके साधनका उपयोग समझना उचित है। अन्य समय इस धर्मके साधनकी कोई भी आवश्यकता नहीं रहती है। केवल आपत्कालमें इसका उपयोग होता है, इस कारण इसको आपद्धर्म कहते हैं। अनुकूल देश और अनुकूल कालमें तो सब प्रकारके विशेष धर्म्म सुसिद्ध हो सकते हैं; परन्तु जब विरुद्ध देश काल और विशेषतः विरुद्ध काल उपस्थित होता है, उस समय साधकको अवस्था आपत्पूर्ण हो जाती है, तब धर्म्मप्राण साधक धर्म्मका त्याग करनेमें असमर्थ होनेसे बाध्य होकर इस धर्म्मका आश्रय लेता है, और कैसे लेता है सो पहले विस्तारितरूपसे कहा गया है।

इस सूत्रोक्त विज्ञानकी पुष्टिमें स्मृति शास्त्रसे निम्न लिखित दृष्टान्त उद्धृत किया जाता है:—

तस्मिन् प्रतिभये काले क्षते धर्मे युधिष्ठिर !
बभ्रमुः क्षुधिता मर्त्याः खादमानाः परस्परम् ॥

विश्वामित्रोऽथ भगवान् महर्षिरनिकेतनः ।
क्षुधापरिगतो धीमान् समन्तात्पर्यधावत ॥

स कदाचित् परिपतन् श्वपचानां निवेशनम् ।
हिंस्राणां प्राणिघातानामाससाद वने क्वचित् ॥

अहो कृच्छ्रं मया प्राप्तमिति निश्चित्य कौशिकः ।
पपात भूमौ दौर्बल्यात् तस्मिंश्चाण्डालपक्कणे ॥

स चिन्तयामास मुनिः किन्नु मे सुकृतं भवेत् ।
कथं वृथा न मृत्युः स्यादिति पार्थिवसत्तम ॥
स ददर्श श्वमांसस्य कुतन्त्रीं विततां मुनिः ।
चाण्डालस्य गृहे राजन् ! सद्यः शस्त्रहतस्य वै ॥

स चिन्तयामास तदा स्तैन्यं कार्यमितो मया।
न हीदानीमुपायो मे विद्यते प्राणधारणे॥
आपत्सु विहितं स्तैन्ये विशिष्टश्च महीयसः।
विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्त्तव्यमिति निश्चयः॥
हीनादादेयमादौ स्यात् समानात्तदनन्तरम्।
असम्भवे वाददीत विशिष्टादपि धार्मिकात्॥
सोऽहमन्त्यावसानायां हराम्येनां प्रतिग्रहात्।
न स्तैन्यदोषं पश्यामि हरिष्यामि श्वजाघनीम्॥

धर्मका नाश हो जानेसे प्रजा क्षुधार्त और अत्याचारी होकर परस्परमें खाने लग गयी थी। इस प्रकार भयानक दुर्भिक्षकालमें महातपा महर्षि विश्वामित्र भी किसी समय अत्यन्त क्षुधातुर होकर घर छोड़ अन्नके अन्वेषणमें इतस्ततः भ्रमण करने लगे। इस प्रकारसे खाद्य अन्वेषण करते हुए किसी समय महर्षि विश्वामित्रने एक अरण्यमें प्राणिघातक हिंस्र चण्डालोंका ग्राम अवलोकन करके उसीमें प्रवेश किया; परन्तु उस ग्राममें भी जब कहीं कुछ खानेको न प्राप्त हुआ, तो हा कष्ट ऐसा कहकर दुर्बलेन्द्रिय होनेसे किसी चण्डालके मकानमें गिर पड़े और किस उपायसे प्राणरक्षा हो यह सोचने लगे। थोड़ी देरमें उस चाण्डालके गृहमें विश्वामित्रको सद्यो निहत किसी कुक्कुरका मांसखण्ड देखनेमें आया, उसको देखकर बहुत ही आनन्दित हो सोचने लगे कि, मैं किसी न किसी तरहसे मांसखण्डको अवश्य ही अपहरण करूँगा। इसके सिवाय इस समय प्राणरक्षाका और किसी तरहका उपाय नहीं दीखता है। आपत्कालमें चौर्य्यवृत्तिका आचरण करनेपर भी गौरवकी हानि नहीं होती है, और शास्त्रमें भी कहा है कि, आपत्कालमें प्राणरक्षार्थ ब्राह्मण चोरी कर सकता है। पहले नीचका द्रव्य, पश्चात् समान जातीयका द्रव्य और यदि उससे भी कुछ प्राप्त न हो तो अपनेसे उत्तम धार्मिक व्यक्तिका भी धन अपहरण कर सकता है। अतः पहले मैं इस नीचका द्रव्य अपहरण करूँगा। इस प्रकार अपहरणसे मुझे चोरीका पाप स्पर्श नहीं करेगा।

इस प्रकार विचार करके महर्षि विश्वामित्र वहीं सोये रहे। तदनन्तर रात्रि अधिक होनेपर जब सब लोग निद्रित हो गये, तो धीरे धीरे

विश्वामित्र उस चाण्डालकी कुटीमें मांसअपहरणार्थ प्रवेश करने लगे, उस समय वह चाण्डाल जागता था। उसने कुटीरमें किसी पुरुषको प्रवेश करते हुए देखकर कर्कश स्वरसे कहा, कौन आया है मेरे घरमें मांस चोरी करनेको? आज अवश्य ही मेरे हाथसे उसका प्राण जायगा। इस बातको सुनकर महर्षि विश्वामित्र अति-भीत और लज्जित होकर कहने लगे,—"मैं विश्वामित्र हूँ, अधिक क्षुधासे व्याकुल होकर तुम्हारे घरमें आया हूँ। यदि तुम साधुदर्शी हो तो मुझे वध न करो। विश्वामित्रकी बात सुनते ही चाण्डाल त्रस्तचित्त हो शय्यासे उठा और आँसू बहाते हुए वह हाथ जोड़कर कहने लगा। भगवन्! इस गम्भीर रात्रिमें आप क्यों यहां आये हैं? चाण्डालका वाक्य सुनकर विश्वामित्रने कहा,—

क्षुधितोऽहं गतप्राणो हरिष्यामि श्वजाघनीम्।
क्षुधितः कलुषं जातो नास्ति ह्रीरशनार्थिनः॥

अटन्भैक्ष्यं न विन्दामि यदा युष्माकमालये।
तदा बुद्धिः कृता पापे हरिष्यामि श्वजाघनीम्॥

अग्निर्मुखं पुरोधाश्च देवानां शुचिसाऽविभूः।
यथावत् सर्वभुग् ब्रह्मा तथा मां विद्धि धर्मतः॥

मैं क्षुधासे कातर व मृतप्राय होकर तुम्हारा यह कुक्कुरमांस अपहरण करनेके लिये आया हूँ। बुभुक्षित व्यक्तिके लिये लज्जा कैसे सम्भव हो सकती है? मैं तुम्हारे ग्राममें बहुत घूमने पर भी कहीं कुछ न पाकर इस पापकार्यके लिये सन्नद्ध हुआ हूं। देखो अग्नि, देवताओंका मुख और पुरोहित रूप है इसलिये पवित्र वस्तुके सिवाय दूसरी वस्तु लेना अग्निके लिये कदापि कर्त्तव्य नहीं है; तथापि जिस प्रकार अग्निको सभी प्रकारकी वस्तु अगत्या लेनी पड़ती है, उसी प्रकार प्राणरक्षार्थ मुझे भी खाद्याखाद्य विचार-शून्य होना पड़ा है। विश्वामित्रजीका वाक्य सुनकर चाण्डालने कहा कि,—

शृगालादधमं श्वानं प्रवदन्ति मनीषिणः।
तस्याप्यधम उद्देश्यः शरीरस्य श्वजाघनीम्॥

नेदं सम्यग् व्यवसितं महर्षे धर्मगर्हितम्।
चाण्डालस्य स्वहरणमभक्ष्यस्य विशेषतः॥
साध्वन्यमनुपश्य त्वमुपायं प्राणधारणे।
न मांसलोभात्तपसो नाशस्ते स्यान्महामुने॥
जानता विहितं धर्मं न कार्यो धर्मसंकरः।
मा स्म धर्मं परित्याक्षीस्त्वं हि धर्मभृतांवर॥

पण्डितगण कहते हैं कि, शृगालके मांससे भी श्वानमांस अपकृष्ट है और उसकी जंघाका मांस अत्यन्त हेय है, विशेषतः अयोग्य चाण्डालका धन अपहरण करना अत्यन्त ही धर्मगर्हित है। इसलिये ऐसे कार्यमें उद्योग करना आपके लिये उचित नहीं है अतः जीवनधारणके लिये दूसरा कोई उत्तम उपाय अवलम्बन कीजिये। मांसके लोभसे तपस्याको विनष्ट न करें। शास्त्रोक्त धर्म अवगत होकर भी धर्मसंकर-विधानमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। आप धार्मिक लोगोंमें प्रधान हैं, आपको धर्मत्याग करना कभी उचित नहीं है। उसका इस प्रकार वाक्य सुनकर विश्वामित्र-जीने कहा,—

निराहारस्य सुमहान् मम कालोऽभिधावतः।
न विद्यतेऽप्युपायश्च कश्चिन्मे प्राणधारणे॥
येन येन विशेषेण कर्मणा येन केनचित्।
अभ्युज्जीवेत् साद्यमानः समर्थो धर्ममाचरेत्॥
ऐन्द्रो धर्मः क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामथाग्निकः।
ब्रह्मवन्हिर्मम बलं भक्ष्यामि शमयन् क्षुधाम्॥
यथा तथैव जीवेद्धि तत् कर्त्तव्यमहेलया।
जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात्॥
सोऽहं जीवितमाकाङ्क्षन्नभक्ष्यस्यापि भक्षणम्।
व्यवस्ये बुद्धिपूर्वं वै तद् भवाननुमन्यताम्॥
बलवन्तं करिष्यामि प्रणोत्स्याम्यशुभानि तु।
तपोभिर्विद्यया चैव ज्योतींषीव महत्तमः॥

मैं अनाहारी होकर बहुत दिनोंसे इतस्ततः भ्रमण कर रहा हूँ, परन्तु प्राणरक्षार्थ कहीं कुछ नहीं प्राप्त हुआ। शास्त्रकी आज्ञा है कि, अवसन्न होनेपर किसी न किसी प्रकारसे प्राणधारण करना चाहिये, तदनन्तर समर्थ होनेपर धर्माचरण करना चाहिये। क्षत्रियगणको इन्द्रकी न्याईं और ब्राह्मणगणको अग्निकी न्याईं धर्म अवलम्बन करना उचित है इसलिये सर्वभुक् अग्निकी तरह क्षुधाशान्तिके लिये मैं कुकुरमांस भोजन कर लूंगा। जिससे जीवनकी रक्षा हो सकती है, ऐसा उपाय विचाररहित होकर सर्वथा करना चाहिये। मृत्युकी अपेक्षा प्राणरक्षा करना श्रेयस्कर है, क्योंकि जीवित रहने पर धर्मानुष्ठान अनायास ही किया जा सकता है। इसलिये प्राणरक्षाकी इच्छासे मैंने अभक्ष्य भक्षणका विचार किया है। तुम उसका अनुमोदन करो। मैं जीवित रहनेपर धर्मानुष्ठान कर सकूंगा और तप व विद्याके प्रभावसे समस्त अशुभोंका नाश कर दूंगा। इस बातको सुनकर चाण्डालने कहा, —

नैतत् खादन् प्राप्नुते दीर्घमायु–
नैव प्राणान्नामृतस्येव तृप्तिः ।
भिक्षामन्यां भिक्ष मा ते मनोऽस्तु
श्वभक्षणे श्वा ह्यभक्ष्यो द्विजानाम् ॥

इस कुकुरमांसभोजन द्वारा आपको सुदीर्घ आयु या अमृतपानके तुल्य तृप्तिलाभ नहीं होगा अतः आप अन्य वस्तुके लिये भिक्षाटन कीजिये, श्वानमांस नितान्त अभक्ष्य लिखा है। विश्वामित्रजीने कहा,—

न दुर्भिक्षे सुलभं मांसमन्यत्
श्वपाक मन्ये न च मेऽस्ति वित्तम् ।
क्षुधार्त्तश्चाहमगतिर्निराशः
श्वमांसे चास्मिन् षड्रसान् साधु मन्ये ॥
स्थाने भवेत् स यशः प्रेत्यभावे
निःसंशयः कर्मणां वै विनाशः ।
अहं पुन र्व्रतनित्यः शमात्मा
मूल्यं रक्ष्यं भक्षयिष्याम्यभक्ष्यम् ॥

बुद्धात्मके व्यक्तमस्तीति पुण्यम्
मोहात्मके यत्र यथा श्वभक्ष्ये ।
यद्यप्येतत्संशयात्मा चरामि
नाऽहं भविष्यामि यथा त्वमेव ॥

इस दुर्भिक्षके समय अन्य मांस सुलभ नहीं है और मेरे पास अर्थ भी नहीं है, विशेषतः अधिक क्षुधातुर होनेसे प्राणरक्षार्थ निरुपायताके कारण मुझे इस समय श्वानमांस ही मधुर षड्रस-युक्त प्रतीत हो रहा है। प्रायोपवेशन द्वारा प्राणत्याग करना श्रेयस्कर है, तो सही, परन्तु जिसको जीनेकी इच्छा है, उसके लिये अनाहार द्वारा शरीर शुष्क करना अत्यन्त गर्हित है, उससे अवश्य ही धर्मलोप होता है। फलतः देहकी रक्षा करना विशेष कर्त्तव्य है। यदि श्वानमांस भोजन द्वारा मुझे सामान्य पापमें लिप्त होना भी पड़े, तो भी मैं व्रतादि द्वारा उस पापका निराकरण कर सकूंगा। सूक्ष्मबुद्धि द्वारा विचार कर देखनेसे आपत्कालमें श्वानमांस-भोजन निर्दोष प्रतिपन्न होता है और मोहबुद्धि द्वारा विचार करनेसे ऐसा कार्य दोषयुक्त प्रतीत होता है। यों कुछ हो यदि मेरा श्वान-मांस भोजन कुछ दोषयुक्त भी हो, तथापि उससे मुझे तुम्हारे ऐसा चाण्डाल बनना नहीं पड़ेगा, क्योंकि उस पापको निराकृत करनेकी शक्ति मुझमें विशेषरूपसे विद्यमान है।

अथास्य बुद्धिरभवत् विधिनाहं श्वजाघनीम् ।
भक्षयामि यथाकामं पूर्वं सन्तर्प्य देवताः ॥
ततोऽग्निमुपसंहृत्य ब्राह्मेण विधिना मुनिः ।
ऐन्द्राग्नेयेन विधिना चरुं अपचत स्वयम् ॥
ततः समारभत्कर्म दैवं पित्र्यञ्च भारत ! ।
आहूय देवान् इन्द्रादीन् भागं भागं विधिक्रमात् ॥
एतस्मिन्नेव काले तु प्रववर्ष स वासवः ।
सञ्जीवयन् प्रजाः सर्वा जनयामास चौषधीः ॥
विश्वामित्रोऽपि भगवांस्तपसा दग्धकिल्विषः ।
कालेन महता सिद्धिमवाप परमाद्भुताम् ॥

स संहृत्य च तत्कर्म अनास्वाद्य च तद्धविः।
तोषयामास देवाँश्च पितॄंश्च द्विजसत्तम॥

इस प्रकार बातचीत होनेके बाद महर्षि विश्वामित्रजीने उस श्वानमांसको ले लिया और वनमें जाकर दैव और पितृकार्य करने लगे। मांस अपहरणके बाद उनकी यह इच्छा हुई कि, विधिपूर्वक प्रथम देवताओंको समर्पण करके पश्चात् मांस भोजन करेंगे। इस प्रकार चिन्ता करके महातपा विश्वामित्रजीने ब्राह्म-विधिके अनुसार अग्नि आहरण करके ऐन्द्राग्नेय विधिके अनुसार स्वयं उसका चरु प्रस्तुत कर लिया। तदनन्तर उस मांस द्वारा प्रस्तुत चरुको अंश अंश करके इन्द्रादिदेवताओंको आह्वान कर देव और पितृकार्य्यविधिके अनुसार समर्पण करने लगे। इतनेमें महर्षि विश्वामित्रके तपःप्रभावसे द्वादश वर्षके बाद इन्द्रदेवने प्रचुर वारि वर्षण कर दिया और प्रजाओंको सञ्जीवित करके औषधी व धनधान्यकी उत्पत्ति कर दी। महर्षि विश्वामित्रजीने भी तपस्याके द्वारा चाण्डाल-मांस-ग्रहण-जन्य पापसे मुक्त होकर परम सिद्धि प्राप्त की। उन्होंने पूर्वक्त पापकर्मको संहार करके उस मांसयुक्त हविका भोजन न करनेपर भी देवता और पितरोंको सन्तुष्ट कर दिया॥२७॥

अब चौथा वर्णन कर रहे हैं:—

साधारणधर्म सबका कल्याण करने वाला है॥२८॥

मानवधर्मके चार भेदोंमेंसे साधारणधर्म्म चतुर्थ है, जो सर्वकल्याणसाधक है। साधारण धर्म्म वह कहाता है कि जिसको क्या आर्यजाति, क्या अनार्य्यजाति, क्या पुरुष, क्या स्त्री, क्या गृहस्थ, क्या संन्यासी, चाहे किसी वर्ण, चाहे किसी आश्रम, अथवा किसी अधिकारका व्यक्ति हो उसको समानरूपसे पालन कर सकता है। साधारणधर्मोंके विषयमें स्मृतिशास्त्रमें ऐसा कहा है:—

"धीर्विद्या सत्यमक्रोध औदार्य्यं समदर्शिता।
परोपकारनिष्कामभावप्रभृतयः शुभा॥

सर्व्वकल्याणसाधकः साधारणधर्म्मः॥ २८॥

साधारणस्य धर्मस्य विद्यन्ते वृत्तयो ध्रुवम् ॥"
"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म्मलक्षणम् ॥"

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध तथा परोपकार, निष्कामभाव, उदारता, समदर्शिता इत्यादि साधारण धर्मकी शुभ वृत्तियाँ हैं॥ २८ ॥

उसके अङ्ग कहे जाते हैं:—

सृष्टिके त्रिभेदके समान उसके तीन अङ्ग हैं ॥ २९ ॥

जैसे सृष्टिके स्वाभाविक तीन भेद देखनेमें आते हैं,यथाः—त्रिगुण त्रिभाव, त्रिदेव आदि; इसी प्रकार साधारण धर्मके भी तीन भेद हैं, यथा–दान तप और यज्ञ। इस विषयमें उपनिषद् तथा स्मृति-शास्त्रमें भी कहा है:—

यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥
अङ्गानां त्रिविधं रूपं युष्माभिरवधार्य्यताम्।
यज्ञो दानं तपस्त्रीणि धर्म्माङ्गानि प्रधानतः ॥

यज्ञ, दान और तप इन कर्मोंको त्यागना नहीं चाहिये, क्योंकि यज्ञ, दान और तप श्रेष्ठ व्यक्तियोंको पवित्र करनेवाले हैं। आसक्तिरहित होकर कर्त्तव्यबुद्धिसे इन कर्मोंको करना चाहिये। धर्माङ्गोंके त्रिविधरूप आप लोग श्रवण करें। यज्ञ, दान और तप येही तीन प्रधान धर्माङ्ग हैं।

इस विषयको यों भी समझ सकते हैं कि, सृष्टिके तीन विभाग हैं, यथा–अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत। सृष्टिके ज्ञानसम्बन्धीय विभागको अध्यात्म, क्रियासम्बन्धीय विभागको अधिदैव और स्थूल पांचभौतिक विभागको अधिभूत कहते हैं। अध्यात्म-विभागके चालक ऋषि, अधिदैव विभागके संचालक देवता और

तदङ्गत्रैविध्यं त्रिभेदवत् ॥ २९ ॥

अधिभूतविभागके संचालक पितृगण हैं। जिस प्रकार कार्य्यब्रह्मरूपी सृष्टिके तीन विभाग हैं, उसी प्रकार सृष्टिका नियन्तारूपी धर्म भी तीन अङ्गोंमें विभक्त है ॥ २९ ॥

प्रथम अङ्ग यज्ञका लक्षण कहा जा रहा है:—

अभ्युदय और निःश्रेयसकर व्यापार विशेषको यज्ञ कहते हैं ॥ ३० ॥

मानव धर्म्मके तीन अंगोंमेंसे सबसे प्रधान यज्ञ है। वह यज्ञ-धर्म्म प्रधान आवश्यकीय है, क्योंकि उसके भेदके अनुसार ही वेदके काण्डत्रयका विभाग है। मनुष्यको अभ्युदय और निःश्रेयस देनेवाले वेद और शास्त्रोक्त व्यापारविशेषको यज्ञ कहते हैं। यज्ञका लक्षण इतना विस्तृत है कि, किसी किसी शास्त्रमें धर्म्ममात्रको यज्ञ कहते हैं, यथा-श्रीगीतोपनिषद्में:—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥

इत्यादि ।

कोई कोई द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ और योगयज्ञका अनुष्ठान करते हैं और दृढ़व्रत यतिगण स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञका अनुष्ठान करते हैं।

परन्तु इस सूत्रमें पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारका केवल यज्ञ नामक प्रधान धर्माङ्गसे ही तात्पर्य्य है, अर्थात् पूर्व सूत्रमें जो साधारण धर्मके तीन अङ्ग कहे गये हैं उनमेंसे केवल प्रथम अङ्गको ही यज्ञशब्दवाच्य समझना उचित है ॥ ३० ॥

उसका भेद कह रहे हैं:—

काण्डत्रय-बोध्य होनेसे वह तीन प्रकारका है ॥ ३१ ॥

वेदके तीन काण्ड हैं, यथाः—कर्म्म, उपासना और ज्ञान। उसी वैदिक त्रिकाण्डके अनुसार यज्ञ भी कर्म्मयज्ञ, उपासनायज्ञ और ज्ञानयज्ञरूपसे तीन भागोंमें विभक्त है। यथा-स्मृतिमें:—

अभ्युदयनिःश्रेयसकरो व्यापारविशेषो यज्ञः ॥ ३० ॥
स त्रिविधः काण्डत्रय-बोध्यत्वात् ॥ ३१ ॥

तेषु यज्ञः प्रधानः स्यात्तस्य भेदास्त्रिधा मताः।
ज्ञानोपासनकर्म्माणि यदुक्तानि मनीषिभिः॥
यज्ञधर्मविभेदास्तु मुनीनां बहवो मताः।
कर्म्मज्ञानोपासनाख्या भेदा मुख्यास्त्रयः स्मृताः॥

धर्मके प्रधान अङ्ग यज्ञके तीन भेद हैं. यथा–ज्ञानयज्ञ, उपासनायज्ञ और कर्मयज्ञ॥ ३१॥

यज्ञमें प्रधानत्व निर्णय किया जाता है:—

संस्कारप्रधानता होनेसे मानसयज्ञ श्रेष्ठ है॥ ३२॥

स्मृतिशास्त्रमें भी लिखा है:—

उत्तमो मानसो याागो मध्यमं बहिरर्चनम्।

मानस याग उत्तम और बहिर्याग मध्यम है।

इस संसारको सृष्टि, स्थिति और लयका कारण मन है और दूसरी ओर संस्कार ही सबका आदिकारण है और संस्कार सबसे बलवान् भी है। अस्तु संस्कारमें मनके सम्बन्धकी अधिकता होनेके कारण मानस यागकी सर्वश्रेष्ठता मानी गयी है॥ ३२॥

प्रसंगसे संकल्पकी प्रधानता बताई जाती है:—

इस कारण धर्म्ममें संकल्पका प्राधान्य है॥ ३३॥

पूर्व सूत्रमें मानसयागके विज्ञान द्वारा मानसयागकी प्रधानता सिद्ध होनेसे यह भी स्वतः सिद्ध हुआ कि, संस्कारका उत्पन्न करनेवाला संकल्प ही है। इस कारण सब प्रकारके धर्ममें संकल्पकी प्रधानता है, ऐसा समझना उचित है। चाहे कर्म्मयज्ञ हो, चाहे उपासनायज्ञ हो, चाहे ज्ञानयज्ञ हो अथवा धर्मके दानादि और कोई अङ्ग हो, उसके कर्त्ताका जैसा संकल्प होगा वैसा ही उसको फल मिलेगा। कर्त्ताका संकल्प यदि सात्त्विक हो तो सात्त्विक फल मिलेगा, यदि राजसिक हो तो राजसिक फल मिलेगा, यदि तामसिक हो तो तामसिक फल मिलेगा और यदि निष्काम हो तो सर्व्वोच्च फल निःश्रेयस मिलेगा। वैदिक, तान्त्रिक आदि यज्ञोंमें इसी कारण संकल्पमन्त्रको ही प्रधान रखकर कार्य्य आरम्भ किया जाता है॥ ३३॥

मानसो गरीयान् संस्कारप्राधान्यात्॥ ३२॥
अतो धर्म्मे प्राधान्यं संकल्पस्य॥ ३३॥

प्रसंगसे कहा जाता हैः—

इसी कारण शपथकी उपयोगिता मानी गयी है ॥ ३४ ॥

धर्म्मके जितने प्रधान संस्कार देखनेमें आते हैं, यथाः—यज्ञोपवीत-धारणके अनन्तर ब्रह्मचर्य, उद्वाह, वानप्रस्थ, कुटीचक, बहूदक आदि सन्यासभेद अथवा गुरुदीक्षाके नाना भेद सबमें प्रथम प्रतिज्ञा कराकर तब अधिकार दिया जाता है। संकल्पकी प्रधानता सब धर्माङ्गोंमें होनेके कारण संस्कार-उत्पादक शपथकी उपयोगिता सब प्रकारके संस्कारके आरम्भमें विज्ञानसिद्ध है। शपथके द्वारा जो संस्कार अन्तःकरणमें अङ्कित हो जाता है, वही बीजरूप रहकर साधकके धर्मोन्नतिरूप फलोत्पत्तिका कारण बनता है ॥ ३४ ॥

कर्मयज्ञके प्रथम भेद कह रहे हैंः—

नित्य नैमित्तिक और काम्यभेदसे कर्म्म त्रिविध होते हैं ॥ ३५ ॥

जिन विहित कर्म्मोंके करनेसे विशेष पुण्य नहीं होता, परन्तु न करनेसे पाप होता है, ऐसे कर्म्मको नित्यकर्म्म कहते हैं, यथा—सन्ध्योपासनादि। जिन विहित कर्म्मोंके न करनेसे पाप नहीं होता परन्तु करनेसे विशेष पुण्य होता है ऐसे कर्म्मयज्ञको नैमित्तिक कर्म्म कहते हैं, यथा—देवमन्दिरप्रतिष्ठादि। जिन विहित कर्म्मों-के करनेसे साधकको विशेष कामना फलीभूत होती है, उस कर्म्म-यज्ञको काम्यकर्म्म कहते हैं, यथा—पुत्रेष्टि यागादि। नित्य नैमित्तिक और काम्य कर्म्मोंका अनेक विस्तार वेद और वेदसम्मत स्मृतिपुराण तन्त्रादि शास्त्रोंमें वर्णित है, यथा—स्मृतिशास्त्रमें कहा हैः—

निरूपितास्त्रयो भेदाः शास्त्रेष्वेतस्य कर्मणः।
नित्यं नैमित्तिकं काम्यमिति वच्म्यथ लक्षणम् ॥

विशिष्टं यदनुष्ठाने पुण्यं नाप्नोति मानवः।
तन्नित्यं प्रत्यवायश्चाऽकरणे यस्य निश्चितः ॥

यथा सन्ध्योपासनादावकृते प्रत्यवायिता।
कृतेऽपि नियमेनैव पुण्यं किञ्चिन्न लभ्यते ॥

शपथोपयोगित्वमतः ॥ ३४ ॥
नित्य-नैमित्तिक-काम्यभेदात् त्रिविधं कर्म ॥ ३५ ॥

कृते यस्मिन् फलप्राप्तिरकृते तु न पातकम्।
एतन्नैमित्तिकं प्रोक्तं यथा तीर्थादिसेवनम्॥
काम्यं तत् कार्यसिद्ध्यर्थं सकामो विदधाति यत्।
यथाऽनपत्यः पुत्रेष्टियागाद्यत्रानुतिष्ठति॥

शास्त्रमें ऐसे कर्मके तीन भेद कहे हैं, यथा–नित्य, नैमित्तिक और काम्य। मैं इन तीनोंके लक्षण-भेद कहता हूँ। जिस कर्मका अनुष्ठान करनेसे मनुष्योंको कोई विशेष पुण्य नहीं होता और न करनेसे प्रत्यवाय होता है, उसे नित्यकर्म कहते हैं, जैसे सन्ध्या न करनेसे प्रत्यवाय होता है और नियमपूर्वक करनेसे कोई विशेष पुण्य नहीं होता है। जिसको करनेसे फल होता है और न करनेसे पातक नहीं लगता है, उसे नैमित्तिक कर्म कहते हैं, जैसे—तीर्थयात्रासेवन आदि। काम्य कर्म उसे कहते हैं जो कोई कामना मनमें रखकर उस कार्यकी सिद्धिके लिये किया जाता है:—जैसे पुत्रहीन मनुष्य पुत्रेष्टि आदि यागोंका अनुष्ठान करते हैं॥ ३५॥

अब दूसरे विभाग कहे जाते हैं।

त्रिभावभेदसे भी त्रिविध हैं॥३६॥

सृष्टिके सब पदार्थ तीन भावमें विभक्त हैं, उन्हींको अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत कहते हैं। इनका विस्तारित विवरण दैवीमीमांसा (मध्यमीमांसा) दर्शनमें वर्णित है। इन्हीं भावत्रयके अनुसार कर्मयज्ञ पुनः तीन भागोंमें विभक्त है। आत्माका ज्ञान-प्रकाशक जो विशेष कर्म्म है, उसको अध्यात्मयज्ञ कहते हैं, यथा–पुस्तक प्रणयनादि। विशेष अधिदैव शक्ति उत्पादक, शास्त्र और आचार्य्यानुमोदित जो कर्म्म हैं, उनको अधिदैव यज्ञ कहते हैं, यथा-रोगशान्तिके अर्थ अनुष्ठानादिक। दूसरे भूतोंकी तृप्ति द्वारा जो अपूर्व फलको उत्पत्ति करनेवाले विहित कर्म्म हैं उनको अधिभूत यज्ञ कहते हैं, यथा—ब्राह्मणभोजनादि। स्मृतिशास्त्रमें कहा है:—

आध्यात्मिकं तथा चाधिदैविकञ्चाधिभौतिकम्।
क्रियते यत् स्वधर्मस्य स्वदेशस्योपकारकम्॥

भावत्रय-सम्बन्धाच्च॥ ३६॥

ज्ञानानुशीलनं यत्र ज्ञेयमाध्यात्मिकं हि तत्।
देवानां कार्यमुद्दिश्य यत्र यागादिकं भवेत्।
तादृशं सकलं कर्म विज्ञेयं ह्याधिदैविकम्॥
तच्चाधिभौतिकं कर्म सर्वभूतार्थमेव यत्॥
दीयतेऽत्रातिथिभ्योऽन्नं भोज्यन्ते ब्राह्मणादयः।

स्वधर्म और स्वदेशके उपकारके लिये ज्ञानका जो अनुशीलन किया जाता है, उसे आध्यात्मिक कर्म जानना चाहिये। देवताओंके कार्यका उद्देश्य रखकर जो याग आदि कर्म किये जाते हैं, वे आधिदैविक कर्म समझने चाहियें और प्राणिमात्रके लये जो कर्म किया जाता है, जैसे अतिथिको अन्न देना या ब्राह्मणोंको भोजन कराना आदि, ये सब आधिभौतिक कर्म्म हैं। ३६॥

अब यज्ञके कर्म्मयज्ञसे अतिरिक्त अन्य अङ्गोंका वर्णन किया जाता है।

उपासना-यज्ञ और ज्ञान-यज्ञके बहु भेद हैं॥ ३७॥

इस दर्शनके साथ कर्म्मका विशेष सम्बन्ध होनेके कारण कर्म्मयज्ञके सब अङ्गोंका वर्णन पूर्व सूत्रोंमें करके अब इस सूत्रद्वारा उपासना-यज्ञ और ज्ञानयज्ञका केवल दिग्दर्शन कराया गया है। दैवीमीमांसा अर्थात् मध्यमीमांसाके अनुसार उपासनायज्ञके अनेक भेद हैं। उनमेंसे क्रियासिद्धांशके अनुसार मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग, ये चार भेद हैं और उपास्यभेदके अनुसार आसुरी शक्तिकी उपासना, ऋषि, देवता और पितृ उपासना, लीलाविग्रहोपासना (अवतारोपासना) सगुणब्रह्मोपासना और निर्गुण ब्रह्मोपासना, इस प्रकार पांच भेद हैं और ब्रह्ममीमांसा अर्थात् उत्तरमीमांसाके अनुसार ज्ञानयज्ञके तीन प्रधान अङ्ग हैं। यथाः—श्रवण, मनन और निदिध्यासन॥ ३७॥

अब साधारण धर्मके दूसरे अङ्गका वर्णन करते हैं:—

द्वन्द्वराहित्यहेतु व्यापारविशेषको तप कहते हैं॥ ३८॥

बहुविधे ज्ञानोपासने॥ ३७॥
द्वन्द्वराहित्यहेतुर्व्यापारविशेषस्तपः॥ ३८॥

सुख दुःख तथा शीत उष्ण आदि जो द्वन्द्व हैं, उनको उपेक्षा न करके उनको समानरूपसे सहकर जो विशेष शक्तिकी प्राप्ति की जाती है उसको तप कहते हैं। सुख दुःख आदि मानसिक द्वन्द्व-युक्त वृत्तियां तथा बोलना न बोलना आदि वाचनिक द्वन्द्वके कार्य्य तथा शीत उष्ण सहना आदि शारीरिक द्वन्द्वके कार्योंको समान-रूपसे सहकर साधक जो एक विशेष संस्कार और शक्तिकी प्राप्ति करता है उसको तप कहते हैं। उदाहरणरूपसे समझना उचित है कि, प्रत्येक श्वानमें मृगया करनेकी शक्ति नहीं होती है, उसको बाँध रखनेसे उसमें वह शक्ति उत्पन्न होती है। उसी प्रकार द्वंद्वोंके भोग द्वारा जो शक्तिका नाश होता है, उनको सह लेनेसे वे शक्तियां नष्ट न होकर साधकमें एकत्रित हो जाती हैं। वे ही तपःशक्ति कहाती हैं। ऐसी तपःशक्ति संग्रहकी क्रियाको तप कहते हैं। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है :—

शरीरचित्तयोः सर्वसौख्यं त्यक्त्वा शनैः शनैः।
तयोर्निर्द्वन्द्वधर्मित्वापादानं तप उच्यते ॥

शरीर और मनका सब सुख धीरे धीरे त्याग करके दोनोंको निर्द्वन्द्वदशा प्राप्तिको तप कहते हैं।

यथैकत्र दृढैः पाशैः पशोर्बद्धस्य सन्ततम्।
प्रवर्द्धन्तेऽधिकं कायवेगविक्रमशक्तयः ॥
एवं कायमनोऽक्षाणां वर्द्धते नितरां बलम्।
तपसि स्थापनादेव सुखभोगविवर्जनात् ॥

एक ही स्थानमें दृढ़ रज्जुसे निरन्तर बँधे हुए पशुके जिस प्रकार कायवेग और पराक्रम आदिकी शक्तियां अधिक प्रबल हो जाती हैं, उसी प्रकार काया, मन और इन्द्रियोंको तपमें लगा देनेसे और उनके सुखभोगको त्याग कर देनेसे उनका बल अत्यन्त बढ़ जाता है ॥ ३८ ॥

तपका भेद वर्णन कर रहे हैं।

तपके तीन भेद हैं ॥ ३९ ॥

धर्मके पूर्व कथित यज्ञरूपी अङ्गोंका वर्णन पूर्व सूत्रोंमें करके

त्रिविधं तत् ॥ ३९ ॥

अब धर्म्मके द्वितीय अङ्ग तपका वर्णन करके इस सूत्र द्वारा जगत्-पवित्रकर तपधर्म्मके भेद कह रहे हैं। तपकी महिमा वेदोंमें बहुत कुछ कही गई है। तपके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, महेश सृष्टिस्थितिलय कार्य्य करते हैं। तपके प्रभावसे ही ऋषि देवता पितृगण अपने अपने दैवीकार्य्य सम्पादन करनेमें समर्थ होते हैं। जगत्में सब अलौकिक कार्य्य तपके द्वारा सम्पादित हो सकता है। तपधर्म्मके तीन प्रधान भेद हैं, यथा—शारीरिक तप, वाचनिक तप और मानसिक तप। साधारण मानसिक तप, वाचनिक तप और शारीरिक तपके विषयमें श्रीगीतोपनिषद्‌में कहा है किः—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्य्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वान्‌की पूजा करना, पवित्र रहना, सरलता, ब्रह्मचर्य रखना और अहिंसा, ये शारीरिक तप कहाते हैं। सत्य प्रिय और अनुद्वेगप्रद और हितकर वाक्य बोलना और स्वाध्याय ये वाचनिक तप कहाते हैं। मनकी प्रसन्नता और सौम्यभाव, मौनभाव, आत्मविनिग्रह, भावशुद्धि ये मानसिक तप कहाते हैं ॥ ३९ ॥

अब साधारण धर्म्मके तीसरे अङ्गका वर्णन किया जाता हैः—

परस्वत्वको उत्पन्न करनेवाले व्यापारविशेषको दान कहते हैं ॥ ४० ॥

दानधर्म्म साधारणधर्म्मका तीसरा अङ्ग है। अपनी वस्तुको सब प्रकारका अपना स्वत्व न रखकर अन्य व्यक्तिको दे देनेको दान कहते हैं। वस्तुतः दान-धर्म बाह्यरूपसे सब अङ्गोंकी अपेक्षा सहज है, क्योंकि इसमें यज्ञ और तपके समान साधनकी कठिनाई नहीं है। केवल स्वत्व त्याग ही इसका विज्ञान है। स्मृतिमें कहा हैः—

परस्वत्वोत्पादको व्यापारविशेषो दानम् ॥ ४० ॥

स्वसम्बन्धमपाकृत्य यदन्यस्मै प्रदीयते।
तद्दानमिति सामान्यलक्षणं मुनयो विदुः॥
तत्रापि दत्तवस्तुभ्यः सम्बन्धं मानसं स्वतः।
सर्वथा क्षपयेद्योऽसौ स वदान्यशिरोमणिः॥
अतीव दुष्करन्त्वेतत् कर्म प्रोक्तं मनीषिभिः।
यदपाक्रियते चित्तसम्बन्धश्चिरसम्भृतः॥

अपना सम्बन्ध छोड़कर जो कुछ दूसरेको दिया जाता है, उसे दान कहते हैं। पुनः दी हुई वस्तुसे जो अपना मानस-सम्बन्ध त्याग देता है वह दानियोंमें श्रेष्ठ है। परन्तु चिरकालसे संलग्न चित्तके सम्बन्धको छोड़ देना, यह कर्म्म अत्यन्त कठिन है ऐसा विद्वानोंका मत है॥ ४० ॥

उसके भेद कह रहे हैंः—

उसके तीन भेद हैं॥ ४१॥

महर्षियोंने दानयज्ञके तीन मुख्य भेद कहे हैं, यथा—अभयदान, ब्रह्मदान और अर्थदान। इष्टोपासनाकी पद्धति अथवा तत्त्वज्ञानके दानके द्वारा गुरुदेव अथवा ज्ञानी व्यक्तिगण जो शिष्य अथवा जिज्ञासुको भयरहित मुक्तिपदके पथका प्रदर्शन कराते हैं उसको अभयदान कहा जाता है। विद्यादानको ब्रह्मदान कहते हैं। और अन्न, वस्त्र, भूमि, कन्या, धन, रत्न, ऐश्वर्य्य आदिके दानको अर्थदान कहते हैं। धर्मके यज्ञ, तप और दानरूपी त्रिविध अंगोंमेंसे दानधर्म-के भेदके विषयमें स्मृति शास्त्रमें कहा हैः—

दानमर्थस्य विद्याया अभयस्येति च द्विजाः।
इत्येवं त्रिविधं दानं मया पूर्वमुदीरितम्॥
भवत्यभयदानं तद् गुरुणा करुणावशात्।
संसारभयनाशाय सम्यग् यदुपदिश्यते॥
संसारभयसंत्रस्तजीवानामविभीषताम्।
शक्ताः सद्गुरवस्तत्र भयं मुख्यं व्यपोहितुम्॥
यस्मात् सर्वेऽभयं दातुं नैव शक्ताः क्षितौ जनाः।
तस्मादनुपयोगित्वाद्दानमेतदुपेक्ष्यते॥

तत् त्रिविधम्॥ ४१॥

विद्यादानञ्चार्थदानमालोच्येते ततोऽधुना ।
तत्र पूर्वं ब्रह्मदानापरपर्य्यायमुच्यते ॥
कायेन मनसार्थेन विद्यावृद्धिमिहेच्छता ।
यद्दानं दीयते सम्यग् ब्रह्मदानं तदीर्य्यते ॥
स्थापनं पाठशालानां महाविद्यालयस्य च ।
दुर्लभप्राक्तनानर्घ्यपुस्तकानां प्रकाशनम् ॥
तथा विरचनं नव्यग्रन्थानामुपयोगिनाम ।
दानञ्च पुस्तकादीनां विद्यार्थिभ्योऽथ पाठनम् ॥
एवं लेखनशैलीनां हितबुद्ध्या प्रवर्त्तनम् ।
ज्ञेयान्येतान्यपि ब्रह्मदानान्तर्भावितानि वै ॥
हस्त्यश्वरथवस्त्रान्नकन्यारत्नावनीगृहम् ।
दीयते श्रद्धया यत्र चेतनाचेतनात्मकम् ॥
धनैश्वर्य्यादिकं सर्वं दीयमानमथार्थिने ।
ऋषिभिः प्रोच्यते सम्यगर्थदानमिति स्फुटम् ॥

हे द्विजों ! अर्थदान, विद्यादान और अभयदान इस प्रकारसे त्रिविध दान होता है, यह मैं पहले ही कह चुका हुं। जब सद्गुरु करुणायुक्त होकर संसारका भयनाश करनेके लिये उत्तम उपदेश करते हैं, तब उसे अभयदान कहते हैं। संसार-भयसे व्याकुल और अभय चाहनेवाले जीवोंके मुख्य भयका नाश करनेके लिये सद्गुरु ही समर्थ हैं। परन्तु पृथ्वीपर सभी लोग अभयदान देनेमें समर्थ नहीं हैं, अतः सर्वसाधारणके पक्षमें इसकी विशेष उपयोगिता न होनेके कारण इस दानके विषयमें साधारणतः उपेक्षा की जाती है। विद्यादान, एवं धनदानकी यहां पर आलोचना की जाती है। दोनोंमें प्रथम विद्यादान है और इसीको ब्रह्मदान भी कहते हैं। काया, मन और धन द्वारा विद्यावृद्धिकी इच्छासे जो दान दिया जाता है, उसे उत्तम ब्रह्मदान कहते हैं। पाठशाला और महाविद्यालयोंकी स्थापना करना, दुर्लभ और बहुमूल्य प्राचीन पुस्तकोंको प्रकाश करना, नवीन उपयोगी ग्रन्थोंका निर्माण करना, विद्यार्थियोंको पुस्तकोंका दान करना, पढ़ाना, सार्वजनिक कल्याणकी बुद्धिसे लेखनशैलियोंका प्रचार करना ये सभी बातें

ब्रह्मदानके अन्तर्गत हैं, ऐसा जानना चाहिये। हाथी, घोड़ा, गाड़ी, वस्त्र, अन्न, कन्या, रत्न, भूमि, घर आदि जो श्रद्धासे दिया जाता है; अर्थात् चेतन या अचेतन धन ऐश्वर्य आदि जो कुछ याचकको दिया गया हो, उसे ऋषिगण स्पष्टतया उत्तम अर्थदान कहते हैं॥४१॥

अब प्रसंगसे साधारणधर्मके विस्तृत स्वरूपका वर्णन किया जाता है:—

प्रकृतितत्त्वकी तरह वह चौबीस भागोंमें विभक्त है ॥ ४२ ॥

धर्म्म ब्रह्मशक्ति महामायाका स्वरूप है। इस कारण प्रकृतिके चौबीस भेदके अनुरूप जगत्‌हितकर साधारणधर्मके भी चौबीस भेद कहे गये हैं, अतः स्मृतिशास्त्रमें ऐसे वचन मिलते हैं:—

साधारणस्य धर्म्मस्य वर्णयेऽङ्गानि साम्प्रतम् ।
आकर्णयन्तां भवद्भिश्च सावधानेन चेतसा ॥
चतुर्विंशतितत्त्वानां नूनं सन्त्यनुरूपतः ।
अङ्गानि पूर्णधर्मस्य चतुर्विंशतिरेव भो ॥

इस समय साधारण धर्म्मका अङ्ग वर्णन करता हूँ ध्यान देकर सुनो, चौबीस तत्त्वोंके अनुसार पूर्णावयव साधारणधर्म्मके चौबीस अंग हैं। इस संख्याका विवरण इस प्रकारसे है, यथा—दानके तीन, तपके तीन, कर्म्मयज्ञके छः, उपासनाके नौ और ज्ञानयज्ञके तीन भेद माने गये हैं ॥ ४२ ॥

और भी कहा जाता है:—

त्रिगुणात्मक होनेसे प्रत्येक त्रिविध है ॥ ४३ ॥

समस्त द्वैत प्रपंच त्रिगुणात्मक है; क्योंकि सबकी मूलरूपा मूलप्रकृति त्रिगुणात्मिका है। इस कारण सृष्टिधारक धर्म्मके सब अङ्गोंका त्रिगुणात्मक होना स्वतःसिद्ध है। अस्तु, पूर्व कथित साधारणधर्म्मके चौबीस अंगोंमेंसे प्रत्येक अङ्ग सात्त्विक, राजसिक तामसिक भेदसे त्रिविध होते हैं। इस प्रकारसे साधारणधर्म्मके बहत्तर भेद माने गये हैं। अतः इन बहत्तर अंगोंका यदि विचार किया जाय तो, यह सुस्पष्ट प्रतीत होगा कि—पृथ्वीके सब धर्म्मपंथ

स चतुर्विंशतिविधः प्रकृतितत्त्ववत् ॥ ४२ ॥
प्रत्येकं त्रिविधं त्रिगुणात्मकत्वात् ॥ ४३ ॥

और उपधर्म्म इन्हीं बहत्तर अङ्गोंमेंसे किसी न किसीके अवलम्बनसे अपने स्वरूपको धारण किया करते हैं । स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है:-

सर्वत्र व्यापकादस्मात् सर्वजीवहितैषिणः ।
धर्मात् सनातनादेव सर्वे धर्माः समुत्थिताः ॥
अङ्गानि त्रीणि धर्मस्य दानं यज्ञस्तपस्तथा ॥
स्कन्धरूपाणि धर्मस्य शाखिनः पावनानि हि ॥
दानञ्चाऽपि त्रिधा प्रोक्तं विद्याऽर्थोऽभयदानतः ।
तत्राऽपि गुणभेदेन नवधा दानमीर्यते ॥
एवं तपस्त्रिधा ज्ञेयं कायिकं वाचिकं तथा ।
मानसञ्चाथ गुणतः प्रत्येकं त्रिविधं पुनः ॥
यज्ञधर्मविभेदास्तु मुनीनां बहवो मताः ।
कर्मज्ञानोपासनाख्या भेदा मुख्यास्त्रयः स्मृताः ॥
कर्मयज्ञस्य षड् भेदा नित्यं नैमित्तिकं तथा ।
काम्यमाध्यात्मिकं चैवाऽऽधिदैवञ्चाधिभौतिकम् ॥
सत्त्वादिगुणयोगेन भेदास्तत्रापि पूर्ववत् ।
अतोऽष्टादशधा कर्म प्रत्येकं गुणयोगतः ।
तथैवोपासनायज्ञो मुनिभिर्बहुधा मतः ।
परं मुख्यप्रभेदास्तूपासनापद्धतेरिमे ॥
उपास्तिर्ब्रह्मणस्त्वाद्या द्वितीया सगुणस्य च ।
तृतीया स्मर्यते लीलाविग्रहोपासना बुधैः ॥
चतुर्थी पितृदेवर्षिगणानामस्त्युपासना ।
अन्तिमा क्षुद्रदेवानां प्रेतादीनां विधीयते ॥
अन्येऽपि तस्याश्चत्वारो भेदाः साधनपद्धतेः ।
तत्रादिमो मन्त्रयोगः स्थूलध्यानैकसाधनः ॥
द्वितीयो हठयोगः स्याज्ज्योतिर्ध्यानैकसाधनः ।
लययोगस्तृतीयोऽसौ बिन्दुध्यानविधानकः ॥
राजयोगोऽन्तिमस्तत्र ब्रह्मध्यानं विधीयते ।
भेदा नवानामप्येषां गुणतः सप्तविंशतिः ॥

श्रवणं मननञ्चैव निदिध्यासनमेव च।
त्रिधैवं ज्ञानयज्ञोऽपि नवधा स्याद्गुणाश्रयात्॥
इत्यन्वशासुर्धर्मस्य मुख्यान् भेदानशेषतः।
चतुर्विंशतिसंख्याकान् मुनयस्तत्त्वदर्शिनः॥
एतेषामपि धर्माङ्गभेदानां गुणभेदतः।
भेदा द्विसप्ततिर्भूयो भवन्तीति विभाव्यताम्॥

सनातनधर्म सर्वजीवहितकारी और सर्वव्यापक होनेके कारण इसीसे संसारके सब धर्म निकले हैं। धर्मरूपी वृक्षके पवित्र स्कन्ध-स्वरूप दान, यज्ञ और तप इस प्रकारसे तीन अङ्ग हैं। दान भी तीन प्रकारके होते हैं। विद्यादान, अर्थदान और अभय-दान। इनमेंसे हरएककी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक गुण भेदानुसार गणना करनेसे दान, सब मिलाकर नौ प्रकारका होता है। इस प्रकारसे तप भी त्रिविध होता है, यथा—कायिक, वाचिक और मानसिक। इनमेंसे हरएक सात्त्विकादि गुण भेदा-नुसार त्रिविध होनेके कारण सब मिलाकर तप भी नौ प्रकारका होता है। यज्ञधर्मके भेद मुनियोंके मतसे अनेक हैं, किन्तु उनमें कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ और ज्ञानयज्ञ ये ही तीन मुख्य कहे गये हैं। कर्मयज्ञके छः भेद हैं, यथा—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, आध्या-त्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। पूर्ववत् सात्त्विकादि गुण भेदानुसार हर एक कर्म तीन तीन प्रकारके होनेसे सब कर्म अठा-रह प्रकारके हैं। इसी तरह मुनियोंने उपासना यज्ञ भी अनेक प्रकारके कहे हैं; परन्तु उपासनापद्धतिके मुख्य भेद निम्नलिखित हैं। पहिली ब्रह्मोपासना, दूसरी सगुणोपासना, तीसरी अवतारो-पासना, चौथी पितृगण, देवगण और ऋषिगणकी उपासना एवं पांचवीं प्रेतादि क्षुद्र देवोंकी उपासना विज्ञपुरुषोंने कही है। इनके अतिरिक्त उपासनाकी साधन पद्धतिके और भी चार भेद हैं। उनमें प्रथम मन्त्रयोग है, जिसका साधन स्थूल-ध्यानसे होता है। दूसरा हठयोग है, जिसका साधन ज्योतिके ध्यानसे होता है। तीसरा लययोग है, जिसमें बिन्दु ध्यान करनेकी विधि है और चौथा राज-योग है, जिसमें ब्रह्मका ध्यान किया जाता है। इस प्रकारकी नवविध उपासनाके सात्त्विकादि गुणानुसार २७ भेद हैं। ज्ञानयज्ञ भी श्रवण,

मनन और निदिध्यासन इस प्रकारसे त्रिविध है। और हरएक सात्त्विकादि गुण भेदानुसार त्रिविध होनेसे ज्ञानयज्ञ नौ प्रकारका कहा जाता है। तत्त्वदर्शी मुनियोंने इस प्रकारसे धर्मके संपूर्ण भेदोंमेंसे मुख्य २४ भेद बताये हैं। धर्माङ्गोंके इन २४ भेदोंके सात्त्विकादि गुणानुसार ७२ भेद होते हैं, यह समझ लेना चाहिये।

अहमेवास्मि भो देवाः! धर्मकल्पद्रुमस्य च ।
बीजं मूलं तथाधारो नात्र कश्चन संशयः ॥

स्कन्धस्तस्य द्रुमस्यास्ते धर्मो वै विश्वधारकः।
मुख्यं शाखात्रयञ्चास्य यज्ञोदानं तपस्तथा ॥

ब्रह्मार्थाभयदानानि देवाः त्रैगुण्ययोगतः ।
दानस्य प्रतिशाखाः स्युर्नवधा नात्र संशयः ॥

तपोऽपि त्रिविधं ज्ञेयं कायवाणीमनोभवम् ।
त्रैगुण्ययोगेनास्यापि प्रतिशाखा नवासते ॥

प्रतिशाखा अनेकाः स्युः यज्ञशाखासमुद्भवाः ।
काम्याऽध्यात्माधिदैवाधिभूतनैमित्यनित्यकाः ॥

कर्मयज्ञप्रशाखाया भेदास्त्रैगुण्ययोगतः ।
त एवाष्टादशास्या हि प्रतिशाखा मनोहराः ॥

पितृदेवर्षिवृन्दानामवतारगणस्य च ।
पञ्चानां सगुणब्रह्मरूपाणां निर्गुणस्य च ॥

ब्रह्मणश्चासुरौघाणामुपास्तेः पञ्च भक्तितः ।
मन्त्रो हठो लयो राज एते योगेन च ध्रुवम् ॥

अस्या भेदाश्च चत्वारो भेदा एवं नवाऽऽसते ।
एते भेदा नवैवाहो देवाः ? त्रैगुण्ययोगतः ॥

उपास्ते प्रतिशाखाः स्युः संख्यया सप्तविंशतिः ।
श्रवणं मननं चैव निदिध्यासनमेव च ॥

त्रयोऽमी ज्ञानयज्ञस्य भेदास्त्रगुण्ययोगतः ।
नवधा सम्विभक्ता हि प्रतिशाखा नवासते ॥

द्विसप्तत्या प्रशाखाभिः शाखाभिश्चैवमेव भोः।
निजानां ज्ञानिभक्तानां धर्मकल्पद्रुमात्मना ॥
विराजे स्वान्तदेशेऽहं निर्जराः नात्र संशयः।

मैं ही धर्मकल्पद्रुमका बीज भी हूँ मूल भी हूँ और आधार भी हूँ इसमें कुछ सन्देह नहीं। उस वृक्षका स्कन्ध विश्वधारक धर्म ही है, उसकी प्रधान तीन शाखाएं हैं, यथा—यज्ञ, तप, और दान। अर्थदान, ब्रह्मदान और अभयदानके त्रिगुणात्मक होनेसे दानकी नौ प्रतिशाखाएं हैं इसमें सन्देह नहीं हैं। शारीरिक तप, वाचनिक तप और मानसिक तपके त्रिगुणात्मक होनेसे तपधर्मकी नौ प्रति शाखाएं है। यज्ञ शाखासे उत्पन्न प्रति शाखाएं अनेक हैं। नित्य, नैमित्तिक, काम्य और अध्यात्म्य, अधिभूत और अधिदैव ये कर्म-यज्ञरूपी प्रशाखाओंके भेद हैं। इनके त्रिगुणात्मक होनेसे कर्मयज्ञकी मनोहर अठारह प्रतिशाखाएं है। उपासना यज्ञके आसुरी उपासना, ऋषि देवता और पितरोंकी उपासना, अवतारोंकी उपासना, पञ्च सगुण ब्रह्मरूपोंकी उपासना और निर्गुण ब्रह्मोपासना ये पांच भक्ति सम्बन्धी भेद हैं। और योगके अनुसार उपासनाके मन्त्र, हठ, लय और राज यह चार भेद हैं इस प्रकारसे इन्हीं नौ भेदोंके त्रिगुणात्मक होनेसे उपासनाकी सताईस प्रति शाखाएं हैं। ज्ञान-यज्ञके श्रवण, मनन, निदिध्यासन ये तीन भेद त्रिगुण सम्बन्धसे नव-धा विभक्त होकर नौ प्रति शाखाएं होती हैं। हे देवगण! इस प्रकारसे मैं ही बहत्तर शाखा और प्रति शाखाओंमें धर्मकल्पद्रुम-रूपसे अपने ज्ञानी भक्तोंके हृदय-देशमें निःसन्देह विराजमान हूँ॥४३॥

अब विशेष भेद कहे जाते हैं,

प्रकृति-परिणामके अनन्त होनेसे उपाङ्ग अनन्त हैं ॥४४॥

साधारण धर्म्मके बहत्तर अंगोंका वर्णन करके अब पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार उसका और भी विस्तृत स्वरूप वर्णन कर रहे हैं। त्रिगुणमयी प्रकृति त्रिगुण वैषम्यके कारण अनन्तरूपको धारण किया करती है। उसी प्रकार त्रिगुण वैषम्य हेतु पूर्व अंगोंसे

उपाङ्गानन्त्यं प्रकृतिपरिणामानन्तभावात् ॥ ४४ ॥

अनन्त उपांग हो सकते हैं। साधारणधर्म्मके उपांगोंके सम्बन्धमें कुछ उदाहरण स्मृतिशास्त्रसे नीचे दिये जाते हैं:—

धर्म्मकल्पद्रुमस्यास्य पत्रपुष्पात्मकान्यहो।
उपाङ्गानि न संख्यातुमर्हाणि कैरपि क्वचित्॥
विचित्राणि मनोज्ञानि सन्ति तानि ध्रुवं सुराः॥

इस धर्मकल्पद्रुमके पत्र पुष्पात्मक उपाङ्गोंकी तो संख्या ही किसीसे नहीं हो सकती है। वे अतिमनोहर और विचित्र हैं॥ ४४॥

और भी कहा जाता है:—

ये सब त्रिगुणात्मक हैं॥ ४५॥

सर्व्वव्यापक साधारणधर्म्मकी अनन्तता पूर्व्वसूत्रमें वर्णन की ही गई है। अब उसका और भी अलौकिक विस्तार दिखाया जाता है। दृश्य प्रपञ्च सब ही त्रिगुणात्मक होनेके कारण यह स्वतः ही विज्ञान सिद्ध है कि, साधारण धर्म्मके अनन्त उपांगोंमें से सब ही अवश्य त्रिगुणभेदसे तीन प्रकारके हुआ करते हैं॥४५॥

और विस्तार कहा जाता है—

भावके अनन्त होनेके कारण एक उपाङ्ग अन्य किसी एकका उपाङ्ग हो सकता है या अनेकका भी उपाङ्ग हो सकता है॥ ४६॥

त्रिगुण भेदसे अनन्त उपाङ्गोंकी अनन्तसत्ता पूर्वसूत्रमें वर्णन करके अब भावके अवलम्बनसे उसकी और भी अनन्तसत्ता वर्णन कर रहे हैं। सर्वव्यापक सर्व जीव-हितकारी साधारणधर्म्म भावके अनन्त विभागोंके अवलम्बनके कारण उसका एक उपांग दूसरेका भी उपाङ्ग हो सकता है और इसी प्रकार एक उपाङ्ग अनेक अंगोंका उपाङ्ग हो सकता है। भावका रहस्य पहले विस्ता-

त्रिगुणात्मकान्येतानि॥ ४५॥
उपाङ्गमेकमङ्गमङ्गस्याङ्गानाम्वा भावानन्त्यात्॥ ४६॥

रितरूपसे वर्णन हो चुका है। उसके अवलंबनसे इस प्रकार महान् रूपको उपाङ्गोंका प्राप्त होना स्वतः-सिद्ध है। इस विषयमें स्मृति शास्त्रमें कहा हैः—

उपाङ्गान्यपि धर्म्मस्य वर्त्तन्ते भूरिशो ध्रुवम्।
देशकालादिवैचित्र्यादुपाङ्गं ह्येकमेव च ॥
अङ्गानां नन्वनेकेषामुपाङ्गं स्यादसंशयम्।
अत्यन्तं वर्तते विज्ञाः! धर्मस्य गहना गतिः ॥

धर्मके उपाङ्ग भी अनेक हैं, और देश, काल, पात्रकी विचित्रतासे एक ही उपाङ्ग अनेक अङ्गोंका निःसन्देह उपाङ्ग हो सक्ता है। धर्मकी गति अतिगहन है ॥ ४६ ॥

प्रसंगसे उनकी शक्तिका वर्णन किया जाता हैः—

अग्निके स्फुलिंगके समान ये सब पूर्णशक्तिविशिष्ट हैं ॥४७॥

अब यह शंका हो सक्ती है कि, साधारणधर्म्म जब अंग उपांग आदिसे अनेक रूप धारण करता है, तो उन भेदोंमें शक्तिका तारतम्य है या नहीं? इस प्रकारकी शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि-सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। जिस प्रकार अग्निका एक स्फुलिंग यदि देश, काल और पदार्थकी सहायता पावे तो वही अग्निस्फुलिंग क्रमशः महान् अग्निमें परिणत होकर सब कुछ दग्ध करनेमें समर्थ होता है। इसी प्रकार धर्म्मका कोई अंग हो या उपांग हो वह यदि अनुकूल देश, काल, पात्रमें सेवित हो, तो पूर्ण-शक्तिको प्रकट करके, अभ्युदयकी तो बात ही क्या निःश्रेयस तक प्रदान करनेमें समर्थ होता है। इस विज्ञानके अनुसार धर्म्मका प्रत्येक अंग या उपांग पूर्णशक्तिविशिष्ट है इसमें सन्देह नहीं ॥ ४७ ॥

अब दूसरी शंकाका समाधान किया जाता हैः—

विशेषके द्वारा जो होता है, साधारणके द्वारा वह नहीं हो सकता है ॥ ४८ ॥

यह भी शंका हो सकती है कि, विशेष धर्म्म और साधारण धर्म्म

शक्तिमन्त्यग्निस्फुलिङ्गवत् ॥ ४७ ॥
विशेषशक्यमशक्यं साधारणेन ॥ ४८ ॥

जब अलग अलग हैं और धर्म्मके अङ्ग और उपाङ्गोंकी शक्ति तुल्य है, तो क्या दोनोंका कार्य्य भी समान हो सकता है? यदि ऐसा हो तो दोनोंमें विशेषता क्या है? इत्यादि शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि, विशेषधर्म्मकी विशेषता अवश्य ही है; क्योंकि विशेष धर्म्मके द्वारा जो फल हो सकता है, साधारण धर्म्मके द्वारा वह नहीं हो सकता है। उदाहरणस्थल-पर समझ सकते हैं कि, ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व, सन्यासीका सन्या-सोपन, वर्णधर्म्मकी रजोवीर्य्यशुद्धि ये केवल विशेष धर्म्मके द्वारा ही प्राप्त हो सकती हैं। मनुष्य साधारण धर्म्म द्वारा चाहे कितना ही उन्नत हो जाय इन विशेष अधिकारोंको नहीं प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार सतीधर्म्मका उदाहरण ले सकते हैं। सतीधर्म्मके द्वारा सती स्त्री पंचम लोकमें पहुंचकर पापी पतिको भी पंचमलोक-का सुख दिला सकती है। वही स्त्रीरूपी जीव सतीधर्म्मका पालन न करनेपर भी योगिनी, तपस्विनी, अथवा आत्मज्ञानी बनकर मुक्ति-भूमिमें पहुंच सकती है, परन्तु सतीत्वकी विशेष शक्ति नहीं प्राप्त कर सकती है। इस प्रकारके उदाहरण द्वारा यह सिद्ध हुआ कि, वर्णधर्म्म, आश्रमधर्म, सतीधर्म आदि विशेष धर्म्मकी विशेषता कुछ और ही है ॥ ४८ ॥

प्रसंगतः विशेष धर्म्मका महत्त्व प्रतिपादन किया जाता है:—

इसलिये विशेषधर्म्मका प्राधान्य है ॥ ४९ ॥

मानवधर्मके चार अङ्गोंमेंसे आपद्धर्म तो केवल आपत्कालमें सहायक होता है, न तो उसकी सार्वभौम उपयोगिता है और न उसकी सार्वजनिक उपयोगिता है। उसी प्रकार असाधारण धर्म केवल असाधारण और अलौकिक शक्ति सम्पन्न व्यक्तिके लिये ही उपयोगी हो सकता है, उसकी भी सार्वजनिक और सार्वभौम उपयोगिता नहीं है। साधारणधर्म्म और विशेषधर्म्म इन दोनोंकी समान-रूपसे सार्वजनिक और सार्वभौम उपयोगिता है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्ममें बड़ा भारी भेद यह है कि, जो कार्य्य साधारण धर्म्म कर सकता है, वह विशेष धर्म अपने अपने अधिकारीके लिये अवश्य ही कर सकता है, किन्तु विशेषधर्म्म जिस

गरीयस्त्वमतो विशेषधर्मस्य ॥ ४९ ॥

अधिकारको प्राप्त करा सक्ता है, साधारणधर्म्म उस अधिकारको प्राप्त नहीं करा सक्ता है। जैसा कि पहले सूत्रमें आचुका है। इस कारण विशेषधर्म्मका प्राधान्य स्वतः ही सिद्ध हुआ। यही कारण है कि, वेद और शास्त्र विशेष धर्म्मके ही वर्णनसे पूर्ण हैं ॥ ४९ ॥

दोनोंके शक्ति-विषयकी शंकाका समाधान किया जाता हैः—

दोनों पूर्ण-शक्तिविशिष्ट हैं ॥ ५० ॥

विशेष धर्म्मके महत्त्वको समझकर जिज्ञासुके हृदयमें यह शंका हो सक्ती है कि, जब विशेष धर्म्मका इस प्रकारसे प्राधान्य है, तो क्या साधारण धर्म अल्पशक्ति विशिष्ट है ? विशेष धर्मकोही जब वेद और शास्त्र अधिक वर्णन करते हैं तो क्या साधारण धर्म इस प्रकार सर्वजीवहितकारी और सर्वव्यापक होनेकी शक्ति प्राप्त कर सक्ता है ? इत्यादि शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका अविर्भाव किया है। अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान-कारित्वके विषयमें साधारणधर्म और विशेषधर्म दोनोंही पूर्ण शक्तिविशिष्ट हैं। कैसा ही अधिकारी हो साधारणधर्म्मके पालन करनेसे वह अभ्युदयको प्राप्त करेगा और निःश्रेयस भूमिमें अग्रसर होगा। दूसरी ओर विशेषधर्मको यदि उसका अधिकारी पालन करेगा तो उसका क्रमशः अभ्युदय और अन्तमें निःश्रेयस अवश्य सम्भावी है। इस कारण सार्वजनिक उपकारित्व-शक्तिके विचारमें दोनोंही समानशक्ति-विशिष्ट हैं ॥ ५० ॥

अब मानवधर्म्मके वर्णनके अनन्तर पुरुषधर्मका लक्षण वर्णन किया जा रहा हैः—

कैवल्योपयोगी होनेसे पुरुषधर्म्म यागप्रधान है ॥ ५१ ॥

पुरुषधर्म्म एक विशेषधर्म है। मनुष्यसृष्टिमें पुरुष और स्त्री येही दो विभाग हैं। उन दोनों विभागोंमेंसे पुरुषविभागका धर्म, अर्थात् जिस विशेष धर्मके द्वारा पुरुषजाति अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त कर सकती है, उसका वर्णन किया जा रहा है। सृष्टिके स्त्री-विभाग और पुरुषविभाग इन दोनोंमेंसे यद्यपि स्त्रीविभाग कैवल्य

पूर्णशक्तिमत्त्वमुभयोः ॥ ५० ॥
यागप्रधानो धर्म्मः पुरुषस्य कैवल्योपयोगित्वात् ॥ ५१ ॥

प्राप्तिके लिये पुरुष होनेकी अपेक्षा रखता है, परन्तु पुरुषविभाग किसीकी अपेक्षा न रखकर कैवल्योपयोगी होनेसे उसका धर्म यज्ञ-प्रधान है। साधारण धर्मके जो तीन प्रधान अङ्ग हैं, उनमेंसे केवल यज्ञधर्मको आश्रय करके धर्माचार्य्योंने पुरुषधर्मका विधान किया है। पुरुषजातिका कैवल्यसे अपेक्षाकृत निकट सम्बन्ध है। दूसरी ओर साधारण धर्मके दान और तप अङ्गोंके साथ ज्ञानका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है; किन्तु कैवल्यप्रदाता ज्ञानका साक्षात् संबंध यज्ञ धर्मके साथ स्वाभाविक रीतिपर है। क्योंकि यज्ञधर्म, कर्म, उपासना और ज्ञान-रूप काण्डत्रयमें विभक्त है यह पहले ही कहा गया है। सुतरां यज्ञके साथ ज्ञानका और पुरुषके साथ कैवल्यका घनिष्ठ सम्बन्ध होनेसे कैवल्यप्रदायक यज्ञके साथ पुरुषधर्मका साक्षात् सम्बन्ध है। इसी कारण कैवल्योपयोगी होनेसे पुरुषधर्म्म यज्ञप्रधान है। इसमें सन्देह ही नहीं। इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें कहा है कि:—

यज्ञप्रधानतामेवं नृणां धर्म्मं इतिश्रुतिः ।

अर्थात् पुरुषधर्म्म यज्ञप्रधान है। यही श्रुति है ॥ ५१ ॥

अब नारीधर्म्मका लक्षण वर्णन किया जाता है:—

कैवल्यके अनुपयोगी होनेसे नारीधर्म तपःप्रधान है ॥५२॥

नारीधर्म भी एक विशेषधर्म्म है। सृष्टिके स्वाभाविकप्रवाहमें दो स्वतन्त्र धारायें दिखायी देती हैं। एक पुरुषधारा और एक स्त्रीधारा। जिसका वर्णन आगेके सूत्रोंमें आवेगा। जड़प्रधान उद्भिज्ज जीवोंमें उन दोनों धाराओंका प्रथम विकाश दिखाई देता है। क्योंकि आदिसृष्टि जब आदिपुरुष परमात्मा और प्रकृति महामायाके सम्बन्धसे प्रारम्भ होती है, तो जीवकी प्रथमोत्पत्तिमें भी वे ही दो सत्तायें विद्यमान रहेगीं इसमें सन्देह ही क्या है। यह देखनेमें ही आता है कि, उद्भिज्ज जीवमें प्रायः पुष्पमें ही पुरुष और नारीकी दो स्वतन्त्र शक्तियां विद्यमान रहती हैं, प्रायः बीजमें भी दो दल विद्यमान रहते हैं। कहीं वृक्षोंमें भी दो विभाग दिखाई देते हैं। उन दोनों विभागोंकी सत्ता रहनेपर ही उद्भिज्जका सृष्टि-प्रवाह प्रवाहित होता रहता है। ये ही दोनों पुरुष और स्त्रीधारा क्रमशः प्रवाहित होकर स्वतन्त्ररूपसे स्वेदजसृष्टिमें और स्वेदजसृष्टिसे

तपः प्रधानो नार्य्याः कैवल्यानुपयोगित्वात् ॥ ५२ ॥

अण्डजसृष्टिमें और अण्डजसे जरायुजसृष्टिमें और साधारण जरायुजसे मनुष्यसृष्टिमें अपनी स्वतन्त्रता रक्षा करती हुई पहुँच जाती है। इसी कारण उक्त दोनों स्वतन्त्र धारामें पड़े हुए जीव अपनी अपनी स्वाभाविक जातिके अनुसार स्वभावसिद्ध संस्कारोंके द्वारा अपनी अपनी धाराके अनुसार ही अभ्युदयको प्राप्त होते हुए अग्रसर होते हैं। संस्कार विरुद्ध कार्य नहीं हो सकता है। जबतक मनुष्ययोनिमें पहुँचकर जीव स्वाधीनता नहीं प्राप्त करता तबतक नवीन संस्कार भी नहीं संग्रह कर सकता है। और सहज कर्म्म परिवर्त्तित नहीं होता है। इस कारण स्त्री स्त्री होकर अग्रसर होती रहती है और पुरुष पुरुष होकर अग्रसर होता रहता है। दूसरी ओर अद्वैत भावके विना कैवल्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। अद्वैतभावकी स्थिति परम पुरुषके स्वस्वरूपमें ही विद्यमान है। इस कारण कैवल्याधिगमके लिये पुरुषधाराके जीवको आत्मज्ञानके अवलम्बनसे स्वस्वरूपको प्राप्त करना होता है और स्त्रीधाराके जीवको प्रथम पुरुषमें तन्मयता प्राप्त करते हुए पुरुषधारामें पहुँच कर तदनन्तर आत्मज्ञानके अवलम्बनसे अद्वैत भावमय स्वस्वरूपमें पहुंचना होता है। इस विज्ञानके द्वारा दोनों स्वतन्त्र स्वतन्त्र धाराओंका रहस्य प्रकट हुआ और यह भी प्रकट हुआ कि,साक्षात् रूपसे नारी–जाति कैवल्याधिगमके अनुपयोगिनी है; क्योंकि उसको स्वस्वरूपकी उपलब्धिके लिये पुरुष धाराका आश्रय लेना पड़ता है। जब उसको अपनी धाराको छोड़कर दूसरी सृष्टि धाराका आश्रय लेना अवश्य सम्भावी है, तब उसको तपोधर्मका आश्रय लेना अवश्य ही पड़ेगा। तपोधर्मका विज्ञान पहले ही कहा गया है, जो इस प्रकार असाधारण कार्य्य सम्पादनके लिये नारी जातिके उपयोगी ही है। अतः कैवल्यके अनुपयोगी होनेसे नारीधर्म तपः प्रधान है यह सिद्ध हुआ। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है:—

"तपः-प्रधानतामेति नारी-धर्म्मो यतः सदा"

नारीधर्म्म तपः प्रधान है॥ ५२॥

इस विज्ञानसे क्या सिद्धान्त निकला सो कहा जाता है:—

इस कारण स्त्रीका पारतन्त्र्य है॥५३॥

ततः स्त्री-पारतन्त्र्यम्॥५३॥

पूर्व्व विज्ञानके अनुसार यह सिद्ध हुआ कि; आदि सृष्टिसे ही स्वाभाविक संस्कार और सहज कर्मके अनुसार पुरुषधारा और स्त्रीधारा दोनों पृथक् पृथक् प्रवाहित हुआ करती हैं। इस कारण सृष्टि प्रकृतिपुरुषात्मक होनेसे इन दोनों प्रवाहोंमें पुरुष और प्रकृति दोनोंका सम्बन्ध होनेपर भी स्वभावतः पुरुषधारामें पुरुषभावका प्राधान्य और स्त्री धारामें प्रकृतिभावका प्राधान्य बना रहना स्वतः-सिद्ध है। दूसरी ओर नारी-धर्म तपःप्रधान होनेसे नारीका शरीर और मन पतिके अधीन होना धर्म्मानुकूल है। इन सब कारणोंसे नारीमें स्वाधीनता स्वधर्मविरुद्ध होगी। आदि सृष्टिका कारण अन्वेषण करनेपर यही सिद्ध होता है कि,परम पुरुष स्वाधीन और निस्संग तथा चेतनस्वरूप हैं। और मूल प्रकृति जड़ा, संग-की अपेक्षा रखनेवाली और पराधीना है। इसी कारण कार्य्यरूपी सृष्टिप्रवाहमें येही गुण विद्यमान रहनेसे नारीका पराधीन होना विज्ञानसिद्ध है। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा हैः—

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्य्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्याश्चात्मनोवशे ॥
पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने ।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥
वाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्त्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥

पुरुषोंको चाहिये कि, स्त्रियोंको स्वतन्त्र न होने देवें, उनको गृहकार्यमें नियुक्त रखकर अपने वशमें रक्खें। स्त्री कन्या-वस्थामें पिताके अधीन, यौवनकालमें पतिके अधीन और वृद्धा-वस्थामें पुत्रके अधीन रहे। स्त्रीको कदापि स्वतन्त्र नहीं होनी चाहिये। स्त्रियां बाल्यकालमें पिताके वशमें, यौवनमें पतिके वशमें और पतिके लोकान्तरगमनके बाद पुत्रोंके अधीन रहें। स्त्री स्वतन्त्र न हो ॥ ५३ ॥

प्रसंगतः पुरुषसम्बन्धसे सिद्धान्त कहते हैंः—

इस कारण स्त्रैण्य पापी होता है ॥ ५४ ॥

स्त्रैण्यस्य पापसम्बन्धित्वमतः ॥ ५४ ॥

प्राकृतिक नियमके अनुसार जब यह सिद्ध हुआ कि, पुरुष स्वाधीन-धर्मी है और नारी पराधीन-धर्मिणी है, तो स्वभावतया धर्मानुकूल यही होगा कि, पुरुष स्वयं स्वाधीन और स्त्रीको अपने अधीन रक्खे। यदि ऐसा न होकर पुरुष पराधीन होता हुआ स्त्रैण्य हो जाय, तो अवश्य ही वह अधार्मिक होगा। क्योंकि पुरुष जिस धर्मके पालन करनेसे अभ्युदय प्राप्त करता था, उस धर्ममें उसने स्वयं बाधा डाली। अस्तु, पुरुषका स्त्रैण्य होना धर्मविरुद्ध है। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है:--

अवीरास्त्रीस्वर्णकारस्त्रीजितग्रामयाजिनाम्।
एषामन्नं न भोक्तव्यं सोमविक्रयिणस्तथा॥

पतिपुत्ररहिता स्त्री, सुवर्णकार (सुनहार) स्त्रैण (जो कि हर तरहसे स्त्रीके अधीन है) बहुयाजी, सोमविक्रयी इन लोगोंका अन्न भोजन करना उचित नहीं है।

पुरुषके स्वाधीन और नारीके पराधीन होनेसे यही तात्पर्य्य है कि, दम्पतिधर्मके पालन करनेमें पुरुषकी स्वाधीनता और नारीको पराधीनता है, उच्छृंखलताके लिये नहीं॥ ५४॥

अपने विज्ञानको और भी पुष्ट कर रहे हैं:—

दो धाराएं स्वतन्त्ररूपसे होनेके कारण॥ ५५॥

नारी-धर्मकी विलक्षणताके विषयमें प्रधान वैज्ञानिक कारणका अन्वेषण करके पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि, सृष्टिके कारणमें जैसे परमपुरुष और मूल प्रकृतिरूपी दो सत्ताएँ विद्यमान हैं, उसी शैलीके अनुसार कार्यरूपी सृष्टिमें भी आदि सृष्टिसे ही दो स्वतन्त्र धाराएँ प्रवाहित होती हैं, यथा-एक स्त्री-धारा और दूसरी पुरुषधारा। ये दोनों धाराएँ किस प्रकारसे प्रवाहित होती हैं, इनकी नियमित स्वतन्त्र सत्ता कैसे विद्यमान रहती है, पुरुषधारामें परमपुरुषकी छाया और स्त्रीधारामें मूल प्रकृतिके छायारूपी लक्षणसमूह कैसे विद्यमान रहते हैं और दाम्पत्य-धर्ममें पुरुषकी स्वाधीनता और नारीकी पराधीनता कैसे होना

द्वे धारे स्वतन्त्ररूपत्वात्॥ ५५॥

सम्भव है, इत्यादि विषय पहले ही भली भांति प्रतिपन्न हो चुके हैं। स्वतन्त्ररूपसे इन दोनों धाराओंके अस्तित्वके कारणसे ही पुरुष धर्मसे पृथक् नारीधर्म विचित्ररूपसे निर्णय किया गया है और पुरुष और स्त्री इन दोनोंकी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक पृथकृता वेद और शास्त्रोंमें मानी गयी है। स्मृतिशास्त्र- में भी कहा है:—

द्विधाकृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥

परमात्माने ब्रह्माण्डकी सृष्टिके लिये अपने शरीरको दो भाग किया, आधे भागसे पुरुष हुए और आधे भागसे नारी हुई ॥ ५५ ॥

प्रसंगसे शंकाका समाधान किया जाता है:—

स्त्रीः-धारा पुरुषधारामयी होकर कैवल्यकी अधिकारिणी हुआ करती है ॥ ५६ ॥

अब जिज्ञासुके हृदयमें यह शंका हो सकती है कि, पुरुषधारा और स्त्रीधारा ये दोनों धाराएँ यदि पृथक् पृथक् हैं, और मूल प्रकृतिके धर्मसमूह स्त्रीधारामें उपस्थित हैं, तो नारी-जातिका पूर्ण अभ्युदय तथा निःश्रेयस कैसे सम्भव हो सकता है ? नारी यदि पराधीना ही है, तो उसकी मुक्ति होना कैसे सम्भव है ? इत्यादि शंकाओंके समाधानमें कहा जाता है कि, स्त्री-धारा पुरुषधारामयी होकर कैवल्यरूप समुद्रमें मिल जाती है। पुरुषमें तन्मयतारूप सतीत्वधर्मके बलसे नारीशरीरका जीव उन्नत पुरुषशरीरको प्राप्त करके अद्वैत भूमिमें पहुँचकर आत्मज्ञानकी सहायतासे मुक्त हो जाता है। नारी- धर्ममें विशेषता यह है कि, नारी चाहे किसी अधिकारकी हो, उन्नत सतीत्व धर्मके बलसे वह तुरन्त ही उन्नत पुरुषयोनिको प्राप्त कर सकती है। अतः नारीजातिके पराधीन होनेपर भी उसको अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्तिके लिये सुविधाएँ पुरुषकी अपेक्षा अधिक हैं और ये सुगम रीतिसे प्राप्त होती हैं। पुरुषको जिस प्रकार वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदिके यथाक्रम अधिकारोंको प्राप्त करके आगे बढ़ना होता है, नारीको इस प्रकारकी कठिनता अभ्युदय और निःश्रेयस

स्त्रीधारा पुंधारामयी कैवल्याधिकारिणी ॥ ५६ ॥

प्राप्त करनेके लिये भोग करनी नहीं होती है। नारी चाहे किसी वर्णकी हो उन्नत सतीधर्मको पालन करनेसे ही वह अभ्युदययुक्त पुरुषयोनिको जन्मान्तरमें प्राप्त कर लेगी और उसके अनन्तर उसको स्वतः ही निःश्रेयस प्राप्तिकी सुविधा मिल जायगी। नारीको पराधीनधर्मवाली देखकर स्त्रैणपुरुष अदूरदर्शितासे शङ्कित हो सक्ते हैं। परन्तु वस्तुतः प्रथम अवस्थामें नारीके लिये यह शास्त्रोक्त अस्वतन्त्रता तथा तपोधर्मका दृढ़ पालन दूषण नहीं है, वरन भूषण ही है और असुविधाजनक नहीं है, किन्तु सुविधाजनक है॥५६॥

प्रसङ्गसे शक्तिका भेद कहते हैं:—

आकर्षणविकर्षणभेदसे शक्ति द्विविध है॥५७॥

पूर्व्व कथित विज्ञानकी दृढ़ताके लिये द्विविध शक्तिका विज्ञान कहा जा रहा है। इस संसारके स्थूल सूक्ष्म प्रपञ्चके सब अङ्गोंमें दो प्रकारकी शक्तियां देखनेमें आती हैं। एक आकर्षणशक्ति और दूसरी विकर्षणशक्ति। स्थूल प्रपञ्चमें परमाणुसे लेकर ग्रह उपग्रहों तकमें इन्हीं आकर्षण और विकर्षणरूपी दोनों शक्तियोंका कार्य्य स्पष्ट देखनेमें आता है। एक परमाणु एक परमाणुको अपनी ओर सृष्टिके समय खींचता है और लयके समय धक्का देता है। एक पत्थर अथवा काष्ठके परमाणुसमूह उस पत्थर अथवा काष्ठकी उत्पत्तिके समय परस्पर मिल मिलकर दृढ़ताको प्राप्त होते हैं। यही उस काष्ठ अथवा पत्थरकी राजसिक अवस्था है। इसी अवस्थामें वह काष्ठ अथवा पत्थर वृद्धिको प्राप्त होता है। उन दोनोंमें जब तामसिक परिणाम होता है, तब उनके परस्परमें मिले हुए परमाणु विकर्षणको प्राप्त होकर एक दूसरेसे अलग हो जाते हैं और तब वह काष्ठ अथवा पत्थर अपने स्वरूपसे नष्ट हो जाता है। एक ब्रह्माण्डके ग्रह उपग्रहोंकी दशा भी ऐसी ही समझनी उचित है। ग्रह उपग्रहकी सृष्टिदशामें परमाणु एकत्र होते हैं और प्रलय दशामें पृथक् पृथक् होकर ब्रह्माण्डका प्रलय संसाधन करते हैं। स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रपञ्चोंमें आकर्षण और विकर्षण दोनों शक्तियोंका कार्य्य स्पष्ट देखनेमें आता है। स्थूलका उदाहरण दिया गया, अब

शक्तिर्द्विविधाऽऽकर्षणविकर्षणभेदात्॥ ५७॥

सूक्ष्मका उदाहरण दिया जाता है। अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें रागकी वृत्तियां आकर्षणजनित होती हैं, और द्वेषकी सब वृत्तियां विकर्षण-जनित होती हैं। इस विषयमें स्मृति शास्त्रमें भी कहा है:—

सम्बध्येतेऽथ शक्ती द्वे आकर्षणविकर्षणे ।
दिवौकसो ! रागमूला शक्तिराकर्षणाऽभिधा ॥
भवद्भिरवगन्तव्या समुत्पन्ना रजोगुणात् ।
विकर्षणाख्या या शक्तिरपरा द्वेषमूलिका ॥
अवधार्य्या भवद्भिः सा समुद्भूता तमोगुणात् ।
आभ्यां द्वाभ्यां हि शक्तिभ्यां ब्रह्माण्डं निखिलं तथा ॥
पिण्डं समस्तमाच्छन्नं सत्यमेतद्वदामि वः ।
एतच्छक्तिद्वयं ह्यास्ते मयि नैवास्म्यहं तयोः ॥
बलाच्छक्तिद्वयस्यास्य कर्म्मजातमथाखिलम् ।
सम्विभक्तं द्विधा देवाः ! उत्तरोत्तरवर्द्धकम् ॥
सृष्टेर्द्वन्द्वात्मिकाया मे प्रवाहं वाहयत्यहो ।

आकर्षण और विकर्षण नामिका द्विविध शक्तियां हैं। आकर्षणशक्ति रागमूलक होनेसे रजोगुणसमुद्भूत है और दूसरी विकर्षणशक्ति द्वेषमूलक होनेसे तमोगुणसमुद्भूत है। इन्हीं दोनों शक्तियोंसे समस्त ब्रह्माण्ड और समस्त पिण्ड आच्छन्न हैं। ये दोनों ही शक्तियां मुझमें हैं, मैं उनमें नहीं हूँ। इन दोनों शक्तियोंके प्रभावसे कर्म्मसमूह द्विधा विभक्त होकर मेरी द्वन्द्वात्मकसृष्टिका प्रवाह उत्तरोत्तर प्रवाहित करते रहते हैं ॥५७॥

द्विविधशक्तिके विचारसे विज्ञानकी सिद्धि की जारही है:—

उनमें आकर्षण नारीधर्म और विकर्षण पुरुषधर्म है ॥५८॥

विकर्षणशक्ति और आकर्षणशक्ति ये दोनों शक्तियां सृष्टि-प्रपञ्चमें परिव्याप्त हैं। वे ही दोनों शक्तियोंका विकाश यथाक्रम पुरुषशरीरमें और नारीशरीरमें विद्यमान है। जब पुरुष विकर्षण-शक्तिरूप है और स्त्री आकर्षणशक्तिरूप है, तब दोनोंका अधिकार स्वतन्त्र होगा और धर्म स्वतन्त्र होगा इसमें सन्देह ही क्या है। स्त्री

तत्राकर्षणं नार्य्या विकर्षणं पुंसः ॥ ५८ ॥

आकर्षणशक्तिरूपा है, इस कारण सृष्टिकार्य्यमें वह प्रधाना है। क्योंकि यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, आकर्षणसे सृष्टिक्रिया होती है और विकर्षणसे लयक्रिया होती है। पुरुष सन्ततिरूपसे नारीशरीरमें वीर्य्यद्वारा प्रवेश करके अपने लयका कारण बनता है और दूसरी ओर नारी पुरुषशक्तिका आकर्षण करके सृष्टि उत्पन्न कर देती है। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है:—

आकर्षणस्वरूपं हि शरीरं योषितामिह।
तथाविकर्षणं नृणां शरीरं स्यात् स्वरूपतः॥

अर्थात् इस संसारमें स्त्रीशरीर आकर्षणरूप और पुरुषशरीर विकर्षणरूप ही हैं॥ ५८॥

प्रसङ्गतः शङ्काका समाधान किया जाता है:—

दोनोंके समन्वयमें निःश्रेयस होता है॥ ५६॥

अब शङ्का यह हो सकती है कि, सृष्टि और प्रलय करनेवाली दो शक्तियां जब नारी और पुरुषमें विद्यमान हैं, तो स्थिति तथा अभ्युदय और निःश्रेयसादिका अवसर कहां है? मुक्तिकी सम्भावना दाम्पत्यसम्बन्धसे कैसे हो सकती है? इत्यादि शङ्काओंके समाधान-में पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। जिस प्रकार राग और द्वेष इन दोनोंके समन्वयसे मुक्तिका उदय होता है, अर्थात् जो महापुरुष रजोगुणसम्भूत राग और तमोगुणसम्भूत द्वेषका जय करके सत्त्वगुणके अवलम्बनसे द्वन्द्वातीत हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है। वहिर्जगत्में उसी प्रकार ऊर्द्ध्वरेता होकर जो योगिराज दाम्पत्यसम्बन्धके आकर्षणविकर्षणशक्तिका जय करके द्वन्द्वातीत होता है, वह भी मुक्तिभूमिमें पहुँच जाता है। इसी कारण वानप्रस्थ आश्रममें सस्त्रीक रहकर भी कामका जय करके मुक्तिमार्गमें अग्रसर होनेकी विधि शास्त्रोंमें पायी जाती है। वस्तुतः पतिभक्ति और सतीत्वकी सहायतासे स्त्री मुक्तिमार्गमें अग्रसर होती है। और गृहस्थ पुरुष स्त्री-दुर्ग द्वारा सुरक्षित होकर मुक्ति मार्गपर विजय लाभ करनेमें समर्थ होता है। स्मृति शास्त्रमें इस विषयका प्रमाण इस प्रकार मिलता है:—

निःश्रेयसं तत्समन्वये॥ ५६॥

समता च द्वयोर्यत्र शक्त्योः संजायते शुभा।
तत्रैव सत्त्वसंजुष्ट-ज्ञानानन्दस्थितिर्भवेत् ॥
अहं तस्यामवस्थायां सत्त्वमय्यां सदा सुराः।
नन्वाविर्भावमापन्ना सन्तिष्ठे नात्र संशयः ॥
काऽप्यवस्था बन्धहेतुः शक्तिद्वयसमन्विता।
जीवानां सर्वथा देवाः ! जीवत्वस्यैव पोषिका ॥
सत्त्वावस्था तृतीया या सैव मुक्तिप्रदायिका।
एतच्छ्रौतरहस्यं हि ज्ञायतां विबुधर्षभाः ॥

इन दोनों शक्तियोंकी जहाँ सुन्दर समता होती है, वहीं सत्त्वगुणमय ज्ञान और आनन्दका स्थान है। उसी सत्त्वगुणमय अवस्थामें मैं सदा प्रकट रहती हूँ, हे देवगण ! इसमें सन्देह नहीं है। इन दोनों शक्तियोंसे युक्त बन्धन करनेवाली वह अवस्था सर्व्वथा जीवोंके जीवत्वकी ही पोषिका है। तीसरी सत्त्वगुणकी जो अवस्था है वही मुक्तिविधायिका है, हे देवगण ! यही वेदोंका रहस्य है सो आप जानें।

भिन्ना त्रिगुणवैचित्र्याच्छक्तिद्वैविध्यमात्मना।
दृष्टिगोचरतामेति श्यामाऽत्र जगतीतले ॥
शक्ती त एव कथ्येते आकर्षणविकर्षणे।
रागद्वेषौ च पितरो नाऽत्र कश्चन संशयः ॥
आद्ये स्थूलेऽपरौ सूक्ष्मौ विद्येते पितरो ध्रुवम्।
एतयोर्गुणसम्बन्धः प्रोच्यते साम्प्रतं मया ॥
अस्ति रागो रजोमूलस्तथाऽकर्षणमेवच।
विकर्षणं तथा द्वेषस्तमोमूलश्च विद्यते ॥
समन्वये द्वयोः सत्त्वगुणो नूनं विकाशते।
अतः समन्वयादेव तयोर्विश्वस्य धारिका ॥
विश्वं रक्षति मच्छक्तिः सात्विकी धर्मरूपिणी।
नित्या सा वर्त्तते नित्यं विश्वकल्याणकारिणी ॥
आरभ्य पितरोऽनेकग्रहोपग्रहतोऽखिलम्।
अग्रवन्तं स्थितिमादत्ते तस्मादेवसमन्वयात् ॥

तथासमन्वयस्यैव दशायां द्वेषरागयोः ।
जीवान्तःकरणे सत्त्वगुणस्यैव प्रकाशतः ॥
ज्ञानं विकाशते सम्यग् धर्मभाव उदेति च ।
पुण्यापुण्यप्रवाहोहि वहते नात्र संशयः ॥
द्वे एव भवतः शक्ती आकर्षणविकर्षणे ।
नारीधारासु जीवानां नृधारास्वपि सर्वतः ॥
ब्रह्मानन्दानुभूतेः स्याल्लोभात् स्पर्शेन्द्रियेण वै ।
दम्पतीसंगमः साक्षात् पवित्रः सात्त्विकः शुभः ॥
सत्त्वभावमयः पुण्यो वर्तते संगमक्षणः ।
आधिदैविकपीठस्योत्पादको नात्र संशयः ॥

विष्णुस्वरूपमादाय ब्रह्माण्डस्य स्थितिक्षणे ।
ब्रह्माण्डेऽस्मिन् यथाऽकृष्टो विष्णुपीठस्वरूपिणि ॥
सन्तिष्ठे पितरो नूनं दम्पतीसंगमे तथा ।
आकृष्यन्ते त्रिधा देवाः पीठस्योत्पादके स्वतः ॥
यथाकालं यथादेशं यथापात्रं तथाऽनघाः ।
भवन्तः पितरस्तत्र रजोवीर्याश्रयेण हि ॥

आकृष्यन्ते वपुर्दातुं जीवाय स्थूलमद्भुतम् ।
अन्ये देवगणानेतुं शरीरैरातिवाहिकैः ॥
युक्ताश्जीवगणांस्तत्र सूक्ष्मदेहावलम्बिनः ।
पूर्वेभ्यो भोगलोकेभ्य आकृष्यन्ते न संशयः ॥
रजःशक्त्या ततस्तत्र तमःशक्तिः परास्यते ।
तेन पीठे विनष्टे वै रजोजातबलाश्रयात् ॥

पतितस्यैव वीर्यस्य सहयोगेन सर्वथा ।
नारीदेहे भवेन्नूनं गर्भाधानं न संशयः ॥
यथा योग्यं तथा यूयं जीवानां सूक्ष्मदेहिनाम् ।
सन्निवासोपयुक्तानि स्थूलदेहगृहाण्यहो ॥
संयच्छथ नयन्तेच जीवांस्तत्रैव निर्जराः ! ।
पराजितं तमोनैव स्यात्तत्र रजसा यदि ॥

रजस्तमोभ्यां पितरो ! भावशुद्धिपुरस्सरम् ।
अग्रेसरद्भ्यां सततं सत्त्वं ज्ञानमयं प्रति ॥

नृनारीभेदरूपाश्च द्वन्द्वधर्मप्रभावतः ।
लब्ध्वा बहिर्गताभ्यां हि पराभक्तिं ममोत्तमाम् ॥

यदि सत्त्वे विलीयेत तर्ह्यक्लिष्टा महर्षयः ! ।
रहितं सृष्टिधर्मेण कैवल्यं शाश्वतं पदम् ॥

अनेनैवाध्वनागम्यमिति संसूचयन्त्यलम् ।
नैवात्र संशयः कोऽपि विद्यते पितृपुङ्गवाः ! ॥

श्यामा त्रिगुण वैचित्र्यसे दो प्रकारकी शक्तिमें विभक्त होकर इस जगत्में दिखाई देती है, उन्हीं शक्तियोंको आकर्षण विकर्षण और रागद्वेष कहते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। हे पितृगण! प्रथम स्थूल और दुसरी सूक्ष्म ही है । अब मैं इन दोनों शक्तियोंका गुणसम्बन्ध कहता हूँ। आकर्षण और राग रजोमूलक और विकर्षण और द्वेष तमोमूलक है। दोनोंके समन्वयमें ही सत्त्वगुणका विकाश होता है। इस कारण आकर्षण विकर्षणके समन्वयसे ही जगत्की धारकधर्मरूपिणी मेरी सात्त्विकशक्ति जगत्की रक्षा करती है। वह नित्या और सर्वदा विश्वका कल्याण करनेवाली है । हे पितरो! उसी समन्वयसे अनेक ग्रह उपग्रहसे लेकर परमाणुपर्यन्त सब- स्थितिभावको धारण करते हैं। उसी प्रकार रागद्वेषके समन्वयकी दशामें ही सत्त्वगुणका विकाश जीवके अन्तःकरणमें होनेसे ज्ञानका विकाश और धर्मभावका सम्यग् उदय हुआ करता है; पवित्र पुण्य प्रवाह ही वहता रहता है इसमें सन्देह नहीं। यही दो आकर्षण विकर्षणशक्तियां जीवोंकी स्त्रीधारा और पुरुषधारामें सर्वत्र वर्तमान हैं। स्पर्शेन्द्रिय द्वारा ब्रह्मानन्दके अनुभवके लोभसे ही साक्षात् पवित्र सात्त्विक और शुभ स्त्रीपुरुषका संगम होता है। संगमका काल अतिपवित्र सत्त्वभावमय और अधिदैव पीठ उत्- पादक है, इसमें सन्देह नहीं । हे पितृगण ! जैसे ब्रह्माण्डकी स्थिति- दशामें मैं ही विष्णुरूप धारण करके विष्णुपीठरूपी इस ब्रह्माण्डमें आकृष्ट रहता हूँ, उसी प्रकार दम्पतीकी पीठोत्पन्नकारिणी संगम दशामें त्रिविध देवतागण स्वतः आकृष्ट हुआ करते हैं। हे अनघ

पितृगण! उस समय आप लोग रजोवीर्यकी सहायतासे ही यथा देश, काल, पात्र अद्भूत स्थूलशरीर जीवको प्रदान करनेके अर्थ उस पीठमें आकृष्ट होते हैं। अन्यान्य देवतागण आतिवाहिक देहयुक्त सूक्ष्मदेहधारी-जीवोंको पूर्व भोगलोकोंसे वहाँ पहुँचा देनेके लिये निःसन्देह आकृष्ट होते हैं। वहाँ रजःशक्ति, तमः-शक्तिको परास्त कर लेती है, उससे पीठका नाश हो जानेपर ही रजो-गुणके बलसे पतितवीर्यसे सर्वथा सहयोगसे नारीदेहमें ही निःसन्देह गर्भाधान हो जाता है। उस समय आप लोग यथायोग्य सूक्ष्म-शरीरधारी जीवोंके रहनेके उपयोगी यथायोग्य गृहरूपी स्थूल शरीर-प्रदान करते हो और देवतागण जीवोंको वहाँही पहुँचा देते हैं। यदि वहाँ तमको रज परास्त नहीं कर सके, तो हे पितरो! रज और तम भावशुद्धिपूर्वक ज्ञानमय सत्त्वकी ओर निरन्तर अग्रसर हो और स्त्री-पुरुष भेदरूपी द्वन्द्व धर्मके प्रभावसे वचकर मेरी उत्तम पराभक्ति प्राप्त करके यदि सत्त्वमें विलीन हो जायँ, तो ऋषिगण आकृष्ट होकर सृष्टिधर्मसे रहित शाश्वत कैवल्य पद इसी मार्गसे प्राप्य है, ऐसा भलिभाँति बता देते हैं। हे पितृश्रेष्ठों! इसमें कोई संशय नहीं है ॥५९॥

प्रसङ्गसे नारीकी महिमा कही जाती हैः—

प्रकृति होनेसे स्त्रियोंका अर्चन अभ्युदयप्रद होता है॥६०॥

सृष्टिकार्य्यमें प्रकृतिका प्राधान्य है। चाहे कोई दर्शनशास्त्र उसको मूलप्रकृति कहे, चाहे कोई महामाया कहे, चाहे कोई ब्रह्म-शक्ति कहे, सब दर्शनशास्त्रोंका यही सिद्धान्त है कि, सृष्टिक्रियामें प्रकृतिका ही प्राधान्य है। अतः इस सर्वशास्त्रसम्मत सिद्धान्तके विषयमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार धर्मपथ-पर चलकर प्रकृतिकी सेवा करनेसे मनुष्य अभ्युदयको प्राप्त करता है, जिस प्रकार जगज्जननी महामायाके अर्चन और सेवा द्वारा मनुष्य अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त करता है, उसी वैज्ञानिक सिद्धान्तका अवलम्बन करके धर्मके गतिवेत्ता पूज्यपाद सूत्र-कार यह सिद्धान्त निर्णय करते हैं कि, स्त्रियोंके अर्चन द्वारा मनुष्य अवश्य ही अभ्युदय प्राप्त करता है। स्मृति शास्त्रमें भी कहा हैः—

प्रकृतित्वात्स्त्रीणामर्चनमभ्युदयाय ॥ ६० ॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥

जहाँ नारी जातिकी पूजा होती है, वहाँ देवता लोग सर्वदा आनन्द करते हैं। जहाँ उनकी पूजा नहीं होती वहाँ सब प्रकार धर्म कार्यानुष्ठान विफल हो जाता है। कल्याण चाहने वाले पिता, भ्राता, पति, देवर, इन सबोंको उचित है कि, उसको अलङ्कार आभूषणादिसे भूषित करें। जिसके घरमें स्त्रियां दुःखित रहती हैं शीघ्रही उसका कुलनाश हो जाता है, जिसके घरमें स्त्रियां आनन्दमें रहती हैं उसका घर दिन व दिन बढ़ता जाता है। जिसके घरमें दुःखिता स्त्री अभिशाप देती है उसका धन, पशु, और सन्तान सभी नाशको प्राप्त होते हैं। इस लिये शान्तिकामी लोगोंको हरएक उत्सवमें भोजन भूषणादिसे नारियोंकी पूजा करनी चाहिये।

यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, मूलप्रकृतिसे स्त्रीधाराका विशेष सम्बन्ध है। इस कारण यदि कहा जाय कि,स्त्रीमात्र ही प्रकृति-रूपिणी है तो विज्ञान-विरुद्ध नहीं होगा। सप्तशती चण्डीमें और देवी भागवत्में ऐसा कहा है:—

"विद्याः समस्तास्तव देवि ! भेदाः ।
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु ॥"

"या याश्चग्रामदेव्यः स्युस्ताः सर्वाः प्रकृतेः कलाः ।
कलांशांशसमुद्भूताः प्रतिविश्वेषु योषितः ॥"

समस्त विद्या और सब स्त्रियां देवीकी ही रूप हैं। सभी ग्राम्यदेवियां और समस्त विश्वस्थिता स्त्रियां प्रकृतिमाताकी अंशरूपिणी हैं।

वस्तुतः आर्य्य जातिमें स्त्रीकी पूजा विहित है, इस कारणसे ही शास्त्रोंकी यही आज्ञा है कि, नारीजाति स्वतन्त्र न होने पावे, नारीजाति पवित्रतासे भ्रष्ट न होने पावे, आर्य्यमहिलाओंमें आदर्श सतीत्वका वीज सदा विद्यमान रहे, द्विजातियोंमें विधवा-विवाहकी छाया भी स्पर्श न करने पावे और आर्य्यस्त्रियां मन-से भी परपुरुषको स्मरण करनेमें अपने आपको कलङ्कित समझा करें। आर्य्यनारीकी पूजा कर्त्तव्य होनेसे ही ये सब सदाचार आर्य्यजातिमें प्रचलित हैं। जिस प्रकार पार्वत्य देशमें बिखरे हुए प्रस्तरखण्डोंको कोई भी मूल्यवान् नहीं समझता है और हीरा मणि आदि रत्नोंको प्रस्तर होनेपर भी मनुष्य उसको बड़े यत्नके साथ सुरक्षित रखता है; ठीक उसी प्रकार आर्य्यजातिके हृदयमें नारीपूजा एक प्रधान कर्त्तव्यकर्मरूपसे खचित है, इस कारणसे ही आर्य्यशास्त्रसमूहने एकवाक्य होकर आर्य्यमहिलाओं-की पवित्रता, रक्षा और सन्मानवृद्धिके अभिप्रायसे ही उक्त सदा-चारोंकी आज्ञा दी है। किसी जिज्ञासुके हृदयमें शङ्का हो कि, यदि नारीमात्र ही प्रकृतिरूपिणी है, तो सदाचारभ्रष्टा, अपवित्रा और निरङ्कुशभावापन्ना स्त्रियां क्यों नहीं पूजायोग्य हो सकती हैं? असत् स्त्रियोंको त्याग करनेके लिये शास्त्रोंमें क्यों आज्ञा है? इस प्रकारकी शङ्काओंका समाधान यह है कि, ब्रह्मशक्ति जिस प्रकार ब्रह्मोन्मुखिनी रहनेसे प्रकृति कहाती है और ब्रह्मसे मुख फेरते ही विकृति कहाने लगती है, उसी प्रकार प्रकृतिके अनुरूप सदाचारवती स्त्री ही प्रकृति-शब्दवाच्य होगी, अन्यथा वह विकृति कहावेगी; इसी कारणप्रकृतिकी पूजा ही शास्त्रसम्मत है। विकृतिकी पूजा शास्त्रसम्मत नहीं है। इस विज्ञानको अन्य प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, विकृतिकी पूजा न करनेसे ही प्रकृतिकी पूजा होती है। क्योंकि जबतक विकृतिका अनादर नहीं हो, तबतक प्रकृतिका आदर सम्भव ही नहीं हो सकता है। इस कारण वेद और शास्त्रोंमें नारीजातिके विषयमें जिन जिन सदाचारोंका

वर्णन है, वे सब नारीजातिके सम्बन्धसे प्रकृतिपूजाके लिये ही हैं ॥ ६० ॥

धर्म्मनिरूपणके प्रसङ्गमें प्रथम-धर्म कहा जाता है:—

आचार स्थूल-सम्बन्धयुक्त है ॥ ६१ ॥

स्थूल सम्बन्धसे आचार धर्म होता है; अर्थात् स्थूलशरीर-द्वारा जो धर्मानुकूल चेष्टा होती है, उसको आचार कहते हैं । चलना, खड़ा होना, जल मृत्तिका आदिसे शरीर शुद्ध करना, स्थूलशरीर-से गुरुजनोंको प्रणाम करना, स्थूलपूजा आदि सब सदाचारके स्थूल उदाहरण हैं । इसी लक्षणके अनुसार नारीधर्म, पुरुषधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदिमें पृथक् पृथक् आचार विहित हुए हैं । स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है:—

यतो धर्म्मानुकूलो यो व्यापारो वपुषोऽखिलः ।
सद्भिः प्रोक्तः सदाचारो नन्वसौ पुण्यवर्द्धनः ॥

धर्मानुकूल सब शारीरिक व्यापारोंको सज्जनोंने सदाचार कहा है, यह निश्चय पुण्यवर्द्धक है ॥ ६१ ॥

विशेषता कहते हैं:—

अतएव प्रथम धर्म्म है ॥ ६२ ॥

स्थूलके साथ सम्बन्ध होनेसे आचारधर्म्म प्रथम धर्म्म होगा, इसमें सन्देह ही क्या है ? स्थूलसे ही सूक्ष्मकी ओर साधनकी गति हुआ करती है । स्थूल-साधनमें योग्यता लाभ करनेके अनन्तर मनुष्य सूक्ष्म साधनकी योग्यता प्राप्त कर सकता है । इस कारणसे भी आचार प्रथम धर्म्म है । सब विशेषधर्म्मोंमें इस धर्मका सबसे पहले सम्बन्ध रक्खा जाता है, इस कारणसे भी आचार प्रथम धर्म्म है । स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है:—

सर्वप्रधान आद्यश्च वरीयान् व्यापकस्तथा ।
सदाचारो विशेषेषु धर्म्मेषु विद्यते द्विजाः ॥

आचारः स्थूल-सम्बद्धः ॥ ६१ ॥
अतएवाद्यः ॥ ६२ ॥

आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादेतत्समायुक्तः नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥

हे ब्राह्मणो! विशेषधर्म्मोंमें सबसे उत्तम श्रेष्ठ तथा व्यापक और प्रथम धर्म सदाचार है। श्रुति और स्मृति कथित आचार ही प्रथम अनुष्ठेय धर्म है, इसलिये आत्मवान् द्विजातियोंको इस धर्मका आचरण सर्वदा करना चाहिये॥ ६२॥

उसका महत्त्व कहा जाता है:—

आधिभौतिक प्राधान्य होनेसे वर्णाश्रमधर्म्म आचार-प्रधान है॥ ६३॥

वर्णाश्रमधर्म्ममें आधिभौतिकशुद्धिकी प्रधानता है। ज्ञानद्वारा अध्यात्मशुद्धि कर्मद्वारा आधिदैविकशुद्धि और रजोवीर्य्यकी शुद्धि-द्वारा वर्णाश्रमकी आधिभौतिक शुद्धि होती है। इस कारण वर्णाश्रम-धर्म आधिभौतिक--प्रधान है। क्योंकि कर्म और ज्ञान साध्य विषय है, किन्तु रजोवीर्य्यकी शुद्धि साध्य विषय नहीं है। जब वर्णाश्रमधर्म्ममें आधिभौतिक प्राधान्य है, और आचारमें भी आधिभौतिक प्राधान्य है, तो वर्णाश्रमधर्ममें आचारकी प्रधानता रहेगी, यह स्वतःसिद्ध है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, जिस मनुष्यके शरीरमें ब्राह्मणका रजोवीर्य्य नहीं है, वह मनुष्य यदि शिक्षालाभ करके अप-नेमें अधिदैवशुद्धिरूपी कर्म और अध्यात्मशुद्धिरूपी ज्ञानका संग्रह कर लेवे, तो भी वह ब्राह्मण नहीं हो सकेगा; और न वह निवृत्ति-मार्गमें जाकर सन्यासी ही हो सकता है। क्योंकि ब्राह्मण होनेके लिये जो ब्राह्मणी माता और ब्राह्मण पिताके रजोवीर्य्य द्वारा स्थूल शरीरकी उत्पत्तिसे जिस आधिभौतिक शुद्धिकी आवश्यकता थी, वह एक जन्ममें किसी अन्य वर्णके व्यक्तिको अथवा अनार्य्य व्यक्तिको प्राप्त नहीं हो सकती है। निष्कर्ष यह है कि, वर्णाश्रमधर्म्ममें रजोवीर्य्यकी पवित्रतारूपी आधिभौतिकशुद्धि अभ्यासके अधीन न होकर जन्मके अधीन होनेके कारण सबसे अधिक विशेषता रखती है। इस कारण वर्णाश्रमधर्म्ममें आधिभौतिक प्राधान्य है, इसमें सन्देह

आचारप्रधानौ वर्णाश्रमावाधिभौतिकप्राधान्यात्॥ ६३॥

ही नहीं। इसी कारण वर्णाश्रमधर्ममें आचारकी प्रधानता मानी गयी है ॥ ६३ ॥

और भी महत्त्व कहा जाता हैः—

यागमें अनाचार होनेसे बाधा होती है ॥ ६४ ॥

आचार-विज्ञानकी पुष्टिके लिये दूसरा उदाहरण दिया जाता है। वेद और शास्त्रोक्त जो याग यज्ञादि किये जाते हैं, जिनमें दैवजगत्के संवर्द्धनका सम्बन्ध रहता है, उनमें यदि आचारका सम्बन्ध न रक्खा जाय और यज्ञोंको अनाचारसे किया जाय, तो उनमें असुर और प्रेतादिकी बाधा हो जाती है। सूक्ष्मदैवराज्यसे जैसे देवता, ऋषि और पितृका सम्बन्ध है, वैसा ही असुरोंका भी सम्बन्ध है और प्रेतादि भी सूक्ष्मदैवराज्यके ही जीव हैं। किसी यज्ञके साधनके समय स्थानशुद्धि, दिग्बन्धन और सदाचारकी शुद्धिके अवलम्बनसे यज्ञस्थान और याज्ञिकोंके शरीरकी शुद्धि न रक्खी जाय,तो असुरगणका और यहां तक कि,प्रेतोंका भी उस यज्ञमें प्रवेश होकर यज्ञ भ्रष्ट हो जायगा। और यज्ञभाग देवता आदिकोंको न पहुँचकर इन राजसिक तामसिक जीवोंको पहुँच जायगा। यही कारण है कि, वैदिक यज्ञ तथा वेदसम्मत अन्यान्य शास्त्रीय यज्ञसमूहमें आचारके द्वारा आधिभौतिक पवित्रताकी रक्षा की जाती है। आचारका यह भी एक बड़ा महत्त्व है ॥ ६४ ॥

अब शारीरिक धर्म्मके अनन्तर मानसिक धर्म्मका वर्णन करते हैंः-

नियम मानस धर्म्म है ॥ ६५ ॥

जिस प्रकार धर्म्मानुकूल शारीरिक व्यापारको आचार कहते हैं, उसी प्रकार धर्म्मानुकूल मानसिक व्यापारको नियम कहते हैं। मनकी अनन्त वृत्तियोंको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं, एक क्लिष्ट और दूसरा अक्लिष्ट। यथा पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलिजीने योगदर्शनमें कहा हैः—

"वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाः अक्लिष्टाः"

पञ्चावयव वृत्तियोंके क्लिष्ट और अक्लिष्टरूपसे दो भेद होते हैं।

यागे बाधनमनाचारात् ॥ ६४ ॥
नियमो मानसधर्म्मः ॥ ६५ ॥

जो वृत्तियां तमोगुण बढ़ाती हैं अर्थात् जिनसे अधर्म होता है वे क्लिष्ट कहाती हैं। और जिन वृत्तियोंके द्वारा सत्त्वगुण बढ़ता है, अर्थात् जिन वृत्तियोंके उदय होनेसे धर्म्म होता है, उनको अक्लिष्ट-वृत्ति कहते हैं। मनमें क्लिष्ट वृत्तियोंका न उदय होने देना और सदा अक्लिष्ट वृत्तियोंके सेवन द्वारा जो जो मानस व्यापार होता है, उसको पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने नियम संज्ञा दी है। धृति, मानसिक तप, परोपकारप्रवृत्ति, सद्विचार, सत्य संकल्प आदि सब ही नियमके अन्तर्गत माने जासकते हैं ॥ ६५ ॥

मानसधर्मकी विशेषता कही जाती है:—

नियमके अङ्गोपाङ्ग त्रिगुणमय हैं ॥ ६६ ॥

आचार स्थूलातिस्थूल धर्म होनेसे उसके त्रिगुणभेदसे त्रिगुण-विभाग करनेमें असुविधा है। परन्तु नियम सूक्ष्मराज्यका विषय है, इस कारण त्रिगुणभेदसे तीन विभाग भी किये जा सकते हैं। जिस प्रकार साधारणधर्मके सब अङ्गोपाङ्गोंके त्रिगुणके अनुसार तीन भेद होते हैं, उसी प्रकार नियमके अङ्गोपाङ्गोंके भी त्रिगुणके अनुसार तीन भेद किये जासकते हैं। यदि यह शंका हो कि, नियम-सम्बन्धीय अक्लिष्ट वृत्तियां सब सत्त्वगुणमय हैं, पुनः नियमके तीन भेद कैसे हो सकते हैं? इस प्रकारकी शंकाका समाधान यह है कि, जैसे सत्त्वगुणमय ब्राह्मण, सत्त्वरजोमय क्षत्रिय आदि भेद माने गये हैं; पुनः ब्राह्मणके भी तीन भेद हो सकते हैं, यथा सात्त्विक ब्राह्मण, राजसिक ब्राह्मण और तामसिक ब्राह्मण उसी प्रकार सत्त्वगुणमय नियमके भी तीन भेद हो सकते हैं ॥ ६६ ॥

प्रसङ्गतः शङ्काका समाधान किया जाता है:—

त्रिगुणभेदसे सब धर्म त्रिविध हैं ॥ ६७ ॥

केवल नियमके लिये ही त्रिगुणात्मक होना क्यों कहा गया? क्या अन्य धर्मसमूह त्रिगुणात्मक नहीं हैं? इत्यादि शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। प्राकृतिक सब पदार्थोंके साथ त्रिगुणका ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि,

---

त्रिगुणमयान्यङ्गोपाङ्गानि ॥ ६६ ॥
सर्वधर्म्मास्त्रिविधा गुणभेदात् ॥ ६७ ॥

त्रिगुणसे अतीत कोई पदार्थ हो ही नहीं सकता। यह सम्भव है कि, किसी विषयमें त्रिगुणका विचार कर लेना अतिकष्ट-साध्य हो जाय, परन्तु त्रिगुणसे अतीत कोई भी सूक्ष्म अथवा स्थूल वस्तु नहीं हो सकती, यह मानना ही पड़ेगा। इस वैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुसार सब धर्म ही त्रिगुणभेदसे तीन तीन प्रकारके होगें, यह निश्चित है ॥ ६७ ॥

तीनोंका अधिकार निर्णय किया जाता है:—

उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं ॥ ६८ ॥

तीनों श्रेणीके धर्म्म ही धर्म होनेसे भी तामसिक धर्मसे राजसिक धर्म और राजसिक-धर्मसे सात्त्विक-धर्म उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। तामसिक धर्म केवल अभ्युदय कर सकता है और कहीं कहीं हानि भी पहुंचा सकता है। राजसिक धर्मसे ऐहलौकिक अभ्युदय और पारलौकिक अभ्युदय होना अवश्यम्भावी है और सात्त्विक धर्म द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस होना निश्चित है ॥ ६८ ।

इसी प्रकार—

सब त्रिभावात्मक हैं ॥ ६९ ॥

धर्म्मके सब अङ्ग और उपाङ्ग जैसे त्रिगुण भेदसे तीन श्रणीके होते हैं, उसी प्रकार त्रिभावभेदसे त्रिविध होते हैं; क्योंकि सृष्टि त्रिभावात्मक है, यथा—स्मृति शास्त्र में:—

ममैव सच्चिदानन्दभावत्रयसमाश्रयात्।
त्त्वध्यात्माधिदैवाधिभूतरूपं महर्षयः ॥
भावत्रयं हि सर्वस्मिन् कार्य्यब्रह्मणि भासते।
दृश्यं नातो भवेत् किञ्चिच्छून्यं भावत्रयेण वै ॥

मेरे ही सत्, चित्, आनन्दभावका आश्रय करके अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूपो त्रिभाव सम्पूर्ण कार्य्यब्रह्ममें प्रकट है। इस कारण त्रिभावसे रहित कोई दृश्य हो ही नहीं सकता है।

उत्तरोत्तरस्य गरीयस्त्वम् ॥ ६८ ॥
सर्वं भावत्रयात्मकम् ॥ ६९ ॥

एतास्तिस्त्रस्त्रिभावानां विश्वं व्याश्नुवते कलाः।
आधिदैविकमाध्यात्म्यं रूपं धृत्वाऽऽधिभौतिकम् ॥

ये ही तीन कलायें अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूप धारण करके जगत्में व्याप्त हैं।

इस विज्ञानके अनुसार प्रत्येक धर्माङ्ग और उपाङ्ग चाहे साधारण धर्म हो, या विशेष धर्म हो, सबमें तीन भावोंके अनुसार त्रिविध शुद्धिकी आवश्यकता रहती है ॥ ६९ ॥

उससे क्या होता है सो कहा जाता है:—

त्रिभावके सम्बन्धसे पूर्णता होती है ॥७०॥

प्रत्येक धर्म्मके अङ्ग अथवा उपाङ्ग चाहे वह साधारण धर्म हो, अथवा विशेष धर्म हो, उसमें जब त्रिविध शुद्धि होती है, तभी वह पूर्ण हो सकता है। उदाहरणकी रीतिपर समझ सकते हैं कि, विशेष धर्म्मरूपी वर्णधर्ममेंसे एक ब्राह्मण तभी पूर्ण ब्राह्मण समझा जायगा, जब वह ब्राह्मणके उपयोगी ज्ञानसे अध्यात्मशुद्धिका अधिकारी होगा, ब्राह्मणोपयोगी कर्मसे अधिदैव शुद्धिका अधिकारी होगा और शुद्ध ब्राह्मणी माता और ब्राह्मण पिताके रजवीर्य्यसे उसका स्थूलशरीर आधिभौतिक शुद्धिसे युक्त होगा। उसी प्रकार साधारण धर्मका उदाहरण समझनेके लिये कहा जा सकता है कि, एक यज्ञ तभी पूर्ण हो सकता है, जब उसके अध्यात्मशुद्धिरूपी संकल्प उत्तम हो, अधिदैवशुद्धिरूपिणी शास्त्रोक्त क्रिया यथावत् हो और यज्ञके आधिभौतिकशुद्धिरूपी घृतादि पदार्थोंकी शुद्धि यथावत् हो। इसी प्रकारसे जब सब धर्म्मोंमें शुद्धि हो, तभी वह धर्म पूर्ण शक्तिको प्राप्त करता है ॥ ७० ॥

गुण क्या मूलक है सो कहा जाता है:—

गुण शक्तिमूलक हैं ॥ ७१ ॥

धर्म निर्णयके विषयमें त्रिगुणका विचार शक्तिमूलक है। सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण मूलप्रकृति महामाया ब्रह्मशक्तिके ही हैं।

पूर्णं त्रिभावोपगमात् ॥ ७० ॥
गुणाः शक्तिमूलाः ॥ ७१ ॥

सुतरां आदिशक्तिके ये तीनों गुण होनेके कारण तीनों गुण शक्ति मूलक होंगे, यह स्वतः सिद्ध है। इस मौलिक सिद्धान्तका अवलम्बन करके पूज्यपाद धर्म्माचार्य्योंने धर्म-निर्णय करते समय जहां इन तीनों गुणोंका विचार किया है, वहां शक्तिका सम्बन्ध मूलमें रखकर निर्णय किया है ॥ ७१ ॥

अब भाव क्या मूलक है, सो कहा जाता है:—

भाव शुद्धिमूलक हैं ॥ ७२ ॥

गुणविचार जिस प्रकार शक्तिमूलक है, भावविचार ठीक उसी प्रकार शुद्धिमूलक है । त्रिविध शुद्धिका विज्ञान पहले ही वर्णन किया है। तीनों भाव ब्रह्मके तीनों भावसे ही प्रकट होते हैं। ब्रह्मके सच्चिदानन्दरूपी त्रिभावसे जिस प्रकार दैवी मीमांसादर्शनमें ब्रह्म, ईश और विराट् रूपका सम्बन्ध दिखाया गया है, उसी प्रकार उन तीनों भावोंसे अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत भावत्रयका सम्बन्ध निर्णय किया है। इसी कारण उक्त दर्शनमें कहा है:—

गुणैः सृष्टिस्थित्यन्ता भावैस्तदनुभवः ॥

तीनों गुणोंकी शक्तिसे सृष्टि, स्थिति और लय क्रिया होती है और तीनों भावोंके प्रभावसे उनका अनुभव होता है। चित्स्वभाव ब्रह्मके तीनों भाव ज्ञानमूलक होंगे, इसमें सन्देह ही क्या है। ज्ञान ही मल, विक्षेप और आवरणसे शुद्ध करके जीवको मुक्त करता है। ज्ञानमूलक त्रिभाव इस कारण शुद्धि मूलक हैं ॥ ७२ ॥

उभयके सम्बन्धसे धर्म्माधर्म निर्णयका विज्ञान कहा जाता है:—

शक्तिप्राधान्यसे भावका व्युत्क्रम होता है ॥ ७३ ॥

जहां शक्तिका विचार होगा, वहां भावमें वैपरीत्य होगा। जिस धर्मके निर्णय करनेमें शक्तिका लक्ष्य रखना होगा, वहां भाव वैपरीत्य होगा, ऐसा समझकर विचारनिर्णय करना होता है। क्योंकि यह पहले ही निर्णय हो चुका है कि, गुणमें शक्तिका विचार और भावमें शुद्धिका विचार होता है। शक्तिका विकाश स्थूलकी सहायतासे सूक्ष्ममें अधिक रूपसे अनुभव करने योग्य है। यही इस

शुद्धिमूलाश्चान्ये ॥ ७२ ॥
भावव्युत्क्रमः शक्तिप्राधान्यात् ॥ ७३ ॥

विज्ञानका मौलिक रहस्य है। उदाहरणरूपसे समझा जा सकता है कि, वर्णाश्रमधर्ममें शक्तिप्राप्तिका लक्ष्य प्रधान है, इस कारण उसके आचारोंका निर्णय करते समय अध्यात्मशुद्धिसे अधिदैवशुद्धि और अधिदैवशुद्धिसे अधिभूतशुद्धिकी प्रधानता मानी गयी है। किसी मनुष्यमें ब्राह्मणत्वका निर्णय करते समय यदि यह समझा जाय कि, उस व्यक्तिमें केवल शुद्ध ब्राह्मणरजोवीर्य्यके होनेसे उसमें ब्राह्मणवर्णके उपयोगी आधिभौतिक शुद्धि विद्यमान है; तो यदि उसमें अन्य दोनों शुद्धि न भी हो, तौभी उसको ब्राह्मण मानना होगा और यदि उसमें ब्राह्मणके कर्म्म भी हो, तो वह और भी उत्तम श्रेणीका ब्राह्मण समझा जायगा। यदि उसमें आत्मज्ञान हो, तो वह पूर्ण और सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण कहावेगा। उसी प्रकार आश्रमधर्म निर्णयमें यदि एक मूर्ख संन्यासी ब्राह्मणजातिका होता हुआ संन्याससंस्कारसे यथारीति संस्कृत होगा, तो वह संन्यासी कहा सकता है। अन्य गुण होनेसे तो पूर्व सिद्धान्तके अनुसार यदि उसमें कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस धर्ममेंसे किसी धर्मकी योग्यता यथारीति पायी जाय, तो वह उत्तम संन्यासी कहावेगा और यदि उसमें आत्मज्ञानी जीवन्मुक्तके लक्षण विद्यमान हों, तो वह सर्वश्रेष्ठ संन्यासी कहावेगा। यही कारण है कि, वर्णाश्रमधर्म-निर्णय करनेमें रजोवीर्य्यकी शुद्धिकी सर्वोपरि आवश्यकता है, तदनन्तर कर्म्मकी शुद्धिकी आवश्यकता है और तदनन्तर ज्ञान-जनित शुद्धिकी आवश्यकता मानी गयी है। क्योंकि शक्तिके विचारसे भावका व्युत्क्रम हो जाता है। जिस प्रकार सृष्टिमें मूल-प्रकृति प्रधान है और परमपुरुष अप्रधान हैं, उसी प्रकार जहां प्रकृतिसम्बन्धीय गुणकी शक्तिका विचार किया जाता है, वहां पुरुषसम्बन्धयुक्त अध्यात्मभाव गौण हो जाता है और प्रकृति-सम्ब-न्धयुक्त आधिभौतिक भाव मुख्य हो जाता है ॥ ७३ ॥

प्रसङ्गसे धर्मका महत्त्व कहा जाता है:—

कार्य्य-कारणभावसे धर्म्म सर्वशक्तियोंका आश्रय है ॥७४॥

त्रिगुणमयी प्रकृतिके साथ सृष्टिस्थितिलयात्मक क्रियाका और

सर्वशक्त्याश्रयो धर्म्मः कार्य्यकारणभावात् ॥ ७४ ॥

अभ्युदयनिःश्रेयसप्रद क्रियाके साथ धर्मका कारणकार्य्य सम्बन्ध होनेसे धर्म्म सर्वशक्तिमान् है। धर्म्म जीवको अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करता है; सुतरां धर्म्म क्रियाविशेषसे सम्बन्ध रखता है और त्रिगुणमयी प्रकृति परिणामशीला होनेसे वह कर्म्मकी जननी है। इस कारण धर्म सब प्रकारकी स्थितिशील तथा उन्नतिशील शक्तियोंका आश्रय-स्थल है। क्योंकि धर्म्मसे जगत्की स्थिति होती है और धर्मसे ही जीवका अभ्युदय और निःश्रेयस होता है ॥ ७४ ॥

इसका वैज्ञानिक रहस्य कहा जाता है:—

प्रकृतिके सर्वशक्तिमती होनेसे ॥ ७५ ॥

ब्रह्मशक्तिरूपिणी मूलप्रकृति सर्वशक्तिमयी है, यह सब शास्त्रोंका सिद्धान्त है। अनन्तकोटिब्रह्माण्डप्रसविनी ब्रह्माण्डपिण्डात्मिका जगद्धात्री सृष्टिस्थितिलयकारिणी ब्रह्मशक्ति सब शक्तियोंकी आधारभूता है। इसलिये प्रमाण अथवा वैज्ञानिक कारण निर्णय करनेकी आवश्यकता नहीं है। अतः धर्म जब उसी प्रकृतिका नियमरूप है और कार्य्यकारणसे सम्बन्धयुक्त है, तो प्रकृतिकी सर्वशक्तिमत्ता विश्वधारक धर्ममें भी रहेगी इसमें सन्देह ही क्या है?॥७५॥

विशेषधर्म्मके प्रसङ्गसे जातिधर्म्म निर्णय किया जाता है:—

जातिधर्म्म प्रकृतिमूलक है ॥ ७६ ॥

जातिधर्म्म जिसका वर्णधर्मसे साक्षात् सम्बन्ध है, वह विशेषधर्म्म प्रकृतिगत है। त्रिगुणमयी प्रकृतिके गुणपरिणामके अनुसार प्रथम परिणाममें ही जातिकी श्रेणी बनती है। ऊपरकी ओर सत्त्वप्रधान, नीचेकी ओर तमःप्रधान और मध्यमें सत्त्वरज और रजस्तमःप्रधान इस प्रकारसे चार विभाग स्वतः ही बनते हैं। क्योंकि रजोगुणका धर्म्म उभयसहायक है। इस कारण प्रकृतिराज्यके चेतन पदार्थोंमें सत्त्वप्रधान, सत्त्वरजःप्रधान, रजस्तमःप्रधान और तमःप्रधान, इस प्रकारसे चार श्रेणीका होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि, उद्भिज्जमें भी वृक्ष, लता, गुल्म और ओषधिरूपी चार श्रेणियां

प्रकृतेः सर्वशक्तिमत्त्वात् ॥ ७५ ॥
प्रकृतिमूलो जातिधर्म्मः ॥ ७६ ॥

हैं। इसी प्रकार पुनः स्वेदज, अण्डज, जरायुजमें भी चार श्रेणियां हैं। इसी कारण श्रुति और स्मृतिमें कहा हैः—

प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत तमग्निर्देवता अन्वसृजत ब्राह्मणो मनुष्याणामजः पशूनां, तस्मात्ते मुख्याः—········बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत तमिन्द्रो देवता अन्वसृज्यत राजन्यो मनुष्याणामविः पशूनां तस्मात्ते वीर्यवन्तो··············मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत तं विश्वेदेवा देवता अन्वसृज्यन्त वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां··········सोऽन्येभ्यो भूयिष्ठा हि देवता अन्वसृज्यन्त······ शूद्रो मनुष्याणामश्वः पशूनाम्········।

प्रजापतिने सृष्टिको इच्छा करके मुखसे तीन प्रकारको सृष्टि की। ये तीनों ब्राह्मणसृष्टियाँ थीं, यथा देवताओंमें अग्नि, मनुष्योंमें ब्राह्मण और पशुओंमें छाग, इसलिये यह सृष्टि मुख्य है। बाहुसे जितनी सृष्टि की वे सब क्षत्रिय हुए यथा देवताओंमें इन्द्र, मनुष्योंमें क्षत्रिय और पशुओंमें मेष। मध्यसे जितनी सृष्टि की, वे सब वैश्य हुए, यथा देवताओंमें विश्वेदेवा, मनुष्योंमें वैश्य और पशुओंमें गौ। पांवसे बहुत सृष्टि की, वे सब शूद्र हुए, उनमें बहुतसे देव, मनुष्य और पशुओंमें अश्व थे।

लघु यत् कोमलं काष्ठं सुघटं ब्रह्मजाति तत्।
दृढाङ्गं लघु यत् काष्ठमघटं क्षत्रजाति तत्॥
कोमलं गुरु यत् काष्ठं वैश्यजाति तदुच्यते।
दृढाङ्गं गुरु यत् काष्ठं शूद्रजाति तदुच्यते॥
लक्षणद्वययोगेन द्विजातिः काष्ठसंग्रहः।

जो काष्ठ हलका, नरम और दूसरे काष्ठसे अच्छी तरहसे मिल सकता है, वही ब्राह्मणजातिका काष्ठ है, जो हलका काष्ठ दृढ़ और अन्य काष्ठसे मिल नहीं सकता है वह क्षत्रिय जातिका काष्ठ है, नरम और भारी काष्ठ वैश्यजातिका है और दृढ़ तथा भारी काष्ठ शूद्र जातिका है, दो जातिके काष्ठोंके गुणयुक्त काष्ठ द्विजातीय वर्णसङ्कर काष्ठ कहलाते हैं॥ ७४॥

विज्ञानको स्पष्ट कर रहे हैं:—

अतः वर्णधर्म्म वैसा है ॥७७॥

पूर्व कथित स्वाभाविक चार श्रेणियोंके अनुसार मनुष्योंमें ब्राह्मणवर्ण, क्षत्रियवर्ण, वैश्यवर्ण और शूद्रवर्ण स्वाभाविक हैं। यदि यह शङ्का हो कि, जब वर्णधर्म स्वाभाविक है, तो मनुष्यके सब देशकी सामाजिक रीतिमें वर्णधर्म्मकी सुव्यवस्था क्यों नहीं है? इस प्रकारकी शङ्काका समाधान यह है कि, मनुष्य पूर्णावयव जीव हो जानेसे अपने धर्मभ्रष्ट होनेकी शक्ति उसे प्राप्त है। इसी कारण केवल मनुष्यमें ही धर्म्माधर्मका अधिकार पाया जाता है। अन्य जीवोंमें नहीं। यथा स्मृतिशास्त्रमें कहा है:—

मानुषेषु महाराज धर्माधर्मौ प्रवर्त्ततः।
न तथाऽन्येषु भूतेषु मनुष्यरहितेष्विह ॥

हे महाराज! मनुष्योंमें ही केवल धर्माधर्म प्रवर्त्तित है, उसके अतिरिक्त अन्य जीवोंमें इस प्रकार धर्माधर्म नहीं हैं।

इसी कारणसे आदि सृष्टिमें सब ब्राह्मण होते हैं। पुनः जो मनुष्य अपने ब्राह्मणभावसे पतित समाजको वर्णधर्मके दुर्गद्वारा सुरक्षित करते हैं, वे आर्य्य बने रहते हैं, अन्यथा अनार्य्य हो जाते हैं। यथा स्मृति शास्त्रमें कहा है:—

असृजद्ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन्।
आत्मतेजोभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान् ॥
न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णताङ्गतम् ॥
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।
त्यक्तस्वधर्म्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः ॥
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥
हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥

तस्माद्व वर्णधर्म्मस्तथा ॥७७॥

ब्रह्माजीने पहले सूर्य और अग्निके समान तेजवाले और आत्माके तेजसे तेजस्वी ब्राह्मणोंको उत्पन्न किया, सृष्टिकी प्रथम दशामें सब ब्राह्मण ही थे, उस समय और कोई वर्ण नहीं था, अनन्तर वे सब कर्मके फलसे वर्णत्वको प्राप्त हुए। अर्थात् जो द्विज कामभोगप्रिय, तीक्ष्ण, क्रोधी, साहसी आदि थे और जिनका रंग लाल हो गया था, वे क्षत्रिय हुए और जो द्विज कृषि, गोरक्षा और वाणिज्यसे जीविका करने लगे और पीतवर्ण हो गये, वे सब वैश्य हुए और जो द्विज हिंसक, मिथ्याप्रिय, लोभी, सकल प्रकारके नीच कर्म करनेवाले, शौच और आचारोंसे भ्रष्ट होकर कृष्णवर्ण हुए, वे शूद्र कहलाने लगे ॥ ७७ ॥

और भी पुष्ट कर रहे हैं:—

सङ्कर अश्वतरवत् है ॥ ७८ ॥

मनुष्यकी आदि सृष्टिमें जो वर्णधर्म बँध जाता है, उसमें यदि सङ्करदोष हो जाय तो जैसे खच्चरकी सृष्टि आगे नहीं चलती, वैसे मनुष्यका मनुष्यत्व नष्ट हो जाता है। वर्णधर्मके स्वाभाविक होनेके कारण सृष्टिके आदिसे ही वह स्थापित होता है, जैसा कि दार्शनिक विज्ञानसे भी सिद्ध है और महाभारत आदि शास्त्रोंसे भी सिद्ध है। तदनन्तर जो मनुष्यसमाज रजोवीर्य्यकी शुद्धि रखकर वर्ण-धर्मकी सुरक्षा करता है, वह चिरकाल जीवित रहता है और जो मनुष्यसमाज अपनी स्वतन्त्रता और अधिकारका अपलाप करके वर्ण-धर्मको भ्रष्ट करता हुआ रजोवीर्य्यकी शुद्धिको भङ्ग कर देता है वह अश्वतरवत् सृष्टिका लोप करता है। खच्चरकी सृष्टि जिस प्रकार आगे नहीं चलती है, उसी प्रकार वर्णधर्मभ्रष्ट मनुष्यसमाज अना-र्य्य होकर कालान्तरमें धर्मविमुख और असभ्य हो कालके गर्भमें विलीन हो जाता है ॥ ७८ ॥

शङ्का समाधानसे विज्ञानकी पुष्टि कर रहे हैं:—

उसकी उन्नति कल्मी वृक्षकी तरह होती है ॥ ७९ ॥

अब यदि जिज्ञासुओंके चित्तमें ऐसी शङ्का होती हो कि जिन

सङ्करोऽश्वतरवत् ॥ ७८ ॥
तदुन्नतिर्विशिष्टसंयोगाद्वृक्षवत् ॥ ७९ ॥

अनार्य्य जातियोंमें वर्णाश्रमधर्मकी व्यवस्था नहीं है, उनमेंभी धनबल, बुद्धिबल और विद्याबलादिसे अभ्युदयके लक्षण देखे जाते हैं, इसका कारण क्या है तो इस प्रकारकी शङ्काओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। जिस प्रकार आम आदिके कल्मी वृक्षके आम बड़े और मीठे होते हैं; परन्तु ऐसे वृक्ष न दीर्घायु होते हैं और न उनके बीजकी सृष्टि आगे अच्छी चलती है। कल्मी वृक्षका बीज बोनेपर पुनः वैसा फल नहीं होता और क्रमशः उसकी सृष्टि दुर्बल हो जाती है। ठीक उसी प्रकार आर्य्य जातिकी सङ्करसृष्टि कुछ कालतक विशेष चमत्कार दिखाने-पर भी अन्तमें अधोगतिको प्राप्त होकर नष्ट भ्रष्ट हो जायगी ॥७९॥

प्रत्यक्ष प्रमाणसे विज्ञानकी सिद्धि की जाती है:—

सर्वत्र ऐसा देखे जानेसे ॥ ८० ॥

इस संसारके इतिहासके देखनेसे भी इस विज्ञानकी सिद्धि होती है। जिस वंशमें सङ्कर प्रजा उत्पन्न होती है, उस सङ्कर प्रजाका वंश नहीं रहता है। नित्य पितृगण ऐसी वंशरक्षाके सहायक नहीं होते हैं। पृथिवीमें वर्णाश्रमधर्म न माननेवाली अनेक अनार्य्य जातियां अनादि कालसे उत्पन्न होती आयी हैं; परन्तु वे सब कालसमुद्रमें डूबती रही हैं। इसी कारण वर्णाश्रमधर्महीन मनुष्यजाति पृथिवीमें चिरस्थायी नहीं होती है और न नियमित अभ्युदयको प्राप्त करती है ॥ ८० ॥

वर्णधर्मकी आवश्यकता कहकर वर्णशुद्धिका उपाय कहा जाता है:—

त्रिभावसे वर्णकी शुद्धि होती है ॥८१॥

अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीनों भावोंके अवलम्बनसे वर्णधर्मकी शुद्धि हुआ करती है। आध्यात्मिकभावकी सुरक्षा ज्ञान-द्वारा, अधिदैवभावकी सुरक्षा कर्म द्वारा और अधिभूतभावकी सुरक्षा पितामाताके रजोवीर्यकी सहायतासे होती है। विना ज्ञानके आत्माका आवरण नाश नहीं होता, इसी कारण ज्ञान आध्यात्मिक

तथा सर्वत्र दर्शनात् ॥८०॥
त्रिभावतो वर्णशुद्धिः ॥८१॥

शुद्धिका हेतु है। प्रत्येक जातिका जातिगत कर्म्म उसके जीवनके लिये भगवदुपासनारूप ही है। क्योंकि उससे प्रकृतिमाताकी यथार्थ पूजा होती है। इस कारण वर्णोचित कर्म द्वारा अधिदैव-शुद्धि होना स्वतःसिद्ध है और स्थूल शरीरका मौलिक उपादान माता और पिताका रजोवीर्य्य है। इस कारण रजोवीर्य्यशुद्धि द्वारा आधिभौतिक शुद्धि होती है। ये ही तीन वर्णधर्मके त्रिविध शुद्धि-सम्पादक हैं। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है:—

रजोवीर्यविशुद्ध्यैव भवत्येव सुरक्षितम्।
आधिभौतिकसंशुद्धेर्बीजं नु पितरो ध्रुवम्॥
विदित्वा पीठमर्यादां संस्कारशुद्धिपूर्विकाम्।
भवताञ्च कृपापुञ्जैः पितरो रक्षितं भवेत्॥
आधिदैविकसंशुद्धेर्बीजं नूनं चिरन्तनम्।
सत्त्वलक्षणसङ्घो वै स्वस्मिञ्छश्वद् विकाशितः॥
क्रियमाणैः प्रयत्नैश्चेद् भवेद् वीजं सुरक्षितम्।
नूनमध्यात्मसंशुद्धेर्नात्र कार्या विचारणा॥
त्रिविधानां हि वीजानां रक्षयैवंविधैः क्रमैः।
वर्णाश्रमाख्यधर्मस्य वीजं स्याद्रक्षितं ध्रुवम्॥

हे पितृगण! रजोवीर्यकी शुद्धिसे ही आधिभौतिक शुद्धिका वीज निश्चय ही सुरक्षित होता है। संस्कारशुद्धिपूर्वक पीठमर्यादा-को जानकर और आप लोगोंकी कृपासे अधिदैवशुद्धिका चिरन्तन वीज अवश्य बना रहता है और अपनेमें सत्त्वगुणके लक्षणसमूह सर्वदा विकसित करनेके प्रयत्न द्वारा अध्यात्मशुद्धिकी वीजरक्षा अवश्य होती है, इसमें विचार न करें। इस प्रकारके क्रमसे त्रिविध वीजकी सुरक्षा द्वारा ही वर्णाश्रमधर्मके वीजकी सुरक्षा होती है॥८१॥

शुद्धिके अभावसे असम्पूर्णताका होना सिद्ध किया जाता है:—

अङ्ग विकल होनेसे अपूर्णता होती है॥ ८२॥

पूर्व विज्ञानके अनुसार यह भी निश्चय होता है कि, इन त्रिविध-

अङ्गवैकल्यादपूर्णता॥ ८२॥

शुद्धियोंमेंसे जिसकी जितनी कमी होगी उतनी ही वर्णधर्ममें अपूर्णता होगी । इस विषयमें उदाहरण दिया जाता है और ब्राह्मणजातिके सम्बन्धसे विचार किया जाता है कि, यदि अध्यात्मशुद्धिकी कमी हो, तो वह दो तिहाई ब्राह्मण होगा और यदि अध्यात्मशुद्धि, अधिदैवशुद्धि दोनोंकी कमी हो, तो वह व्यक्ति ब्राह्मणवर्णका होनेपर भी एक तिहाईका ब्राह्मण होगा । अवश्य रजोवीर्य्यकी शुद्धि तो परमावश्यकीय है, क्योंकि वह साध्य नहीं है । इसी प्रकार अन्य वर्णके व्यक्तियोंमें अङ्गवैकल्य होना समझा जाय ॥८२॥

प्रसङ्गसे ब्राह्मणके भेदका विज्ञान कहा जाता है:—

इसी कारण ब्राह्मणके अनेक भेद हैं ॥ ८३ ॥

स्मृतिशास्त्रमें जो क्षत्रिय ब्राह्मण, वैश्य ब्राह्मण, शूद्र ब्राह्मण, चाण्डाल ब्राह्मण, निषाद ब्राह्मण आदि कल्पनायें की गयी हैं, वे सब इसी पूर्वकथित विज्ञानके आश्रयपर की गई हैं । तात्पर्य्य यह है कि, जिस ब्राह्मणमें केवल रजोवीर्य्यशुद्धिरूपी अधिभूतशुद्धि हो और अन्य दोनों शुद्धियां न होकर अन्यान्य प्रकारकी न्यूनता अथवा दोष पाये जायँ, उनको उन उन लक्षणोंके अनुसार विभिन्न श्रेणीमें विभक्त किया गया है यथा:—

देवो मुनिर्द्विजो राजा वैश्यः शूद्रो निषादकः ।
पशुर्म्लेच्छश्च चाण्डालो विप्रा दशविधाः स्मृताः ॥

संध्यां स्नानं जपं होमं देवतातिथिपूजनम् ।
वैश्वदेवञ्च कुर्वाणो विप्रो देवः प्रकीर्त्त्यते ॥

शाके पत्रे फले मूले वनवासे सदा रतः ।
निरतोऽहरहः श्राद्धे स विप्रो मुनिरुच्यते ॥

वेदान्तं यः पठेन्नित्यं सर्वसङ्गं परित्यजेत् ।
सांख्ययोगविचारस्थः स विप्रो द्विज उच्यते ॥

अस्त्राहताः सुधन्वानः संग्रामे सर्वसम्मुखे ।
आक्रम्य निर्जिता येन स विप्रः क्षत्र उच्यते ॥

अतो ब्राह्मणानेकविधत्वम् ॥ ८३ ॥

कृषिकर्मरतो यश्च गवाश्च प्रतिपालकः।
वाणिज्यव्यवसायी च स विप्रो वैश्य उच्यते॥

लवणस्याथ लाक्षायाः कुसुम्भक्षीरसर्पिषाम्।
विक्रेता मधुमांसानां स विप्रः शूद्र उच्यते॥

तस्करश्चैव पापी च सूचको दंशकस्तथा।
मत्स्यमांसे सदा लुब्धः प्रोच्यते स निषादकः॥

ब्रह्मतत्त्वं न जानाति ब्रह्मसूत्रेण गर्वितः।
तेनैव स च पापेन विप्रः पशुरुदाहृतः॥

वापीकूपतड़ागानामारामसरसां तथा।
निःशङ्कं रोधको यस्तु स विप्रो म्लेच्छ उच्यते॥

क्रियाहीनश्च मूर्खश्च सर्वधर्मविवर्जितः।
निर्दयः सर्वभूतेषु विप्रश्चाण्डाल उच्यते॥

देव, मुनि, द्विज, राजा, शूद्र, निषाद, म्लेच्छ और चाण्डाल ब्राह्मणोंमें ये दश प्रकारके भेद हैं। यथा—सन्ध्या, स्नान, जप, होम, देवता-अतिथिपूजन और बलिवैश्वदेव इन सबको जो ब्राह्मण नित्य प्रति करते हैं, उनको देवब्राह्मण कहा जाता है। शाक, पत्र, फल, मूलादिसे वनवासमें रहकर जो पितृकृत्यमें तत्पर रहते हैं, उनको मुनि कहते हैं। सर्वसङ्गका परित्याग करके सांख्ययोगविचारमें रत रहनेवाले और वेदान्तका पाठ करनेवाले ब्राह्मणको द्विज ब्राह्मण कहा जाता है। अस्त्रके द्वारा आहत करके, संग्राममें धनुर्वाणधारियोंको आक्रमण करते हुए जो विजय लाभ करते हैं, ऐसे ब्राह्मणको क्षत्र ब्राह्मण कहा जाता है। जो कि कृषिकर्ममें रत रहते हैं, गोपालन तथा वाणिज्यादि किया करते हैं, ऐसे ब्राह्मणको वैश्य ब्राह्मण कहा जाता है। लवण, लाक्षा, कुसुम्भ, क्षीर, घृत और मधु, मांस विक्रय करनेवाले ब्राह्मणको शूद्र ब्राह्मण कहा जाता है। चोर, पापी, परनिन्दक, दूसरोंको आघात पहुँचाने वाले तथा मत्स्य मांसमें सदा लोभ करनेवाले ब्राह्मणको निषाद ब्राह्मण कहा जाता है। ब्रह्मतत्त्वको न जानते हुए भी यज्ञोपवीतका गर्व करनेवाले ब्राह्मणको उस पापसे पशु ब्राह्मण कहा जाता है। वापी, कूप, तड़ाग, बगीचे और सरोवरोंको निःशङ्क होकर बन्द

करनेवालेको म्लेच्छ ब्राह्मण कहा जाता है। क्रियाविहीन, मूर्ख और धर्माधर्मविवर्जित निर्दय ब्राह्मणको चाण्डाल ब्राह्मण कहा जाता है ॥८३॥

वर्णधर्मका प्रधान अवलम्बन सिद्ध किया जाता है:—

सर्वत्र बीजका प्राधान्य है ॥ ८४ ॥

जिस प्रकार मनुष्येतर नाना प्रकारकी सब योनियोंमें बीजका प्राधान्य है, उसी प्रकार वर्णधर्ममें भी बीजका ही प्राधान्य है। इसी कारण रजोवीर्य्यकी शुद्धिरूपी अधिभूतशुद्धिको सबसे प्रथम और परमावश्यकीय माना है; क्योंकि, कर्म और ज्ञान साध्य विषय है, परन्तु रजोवीर्य्यकी शुद्धि साध्य नहीं है। वह पिता, माता के अधीन है। उन दोनोंमें भी बीजका प्राधान्य है। संसारमें भी देखनेमें आता है कि, भूमिके हेर फेरसे उद्भिज्ज सृष्टिमें तारतम्य होता है, परन्तु जैसा बीज होता है, वैसे ही सृष्टि आगेको चलती है। इस कारण सर्वत्र बीजका प्राधान्य है यह मानना ही पड़ेगा ॥ ८४ ॥

प्रसङ्गसे पितृमाहात्म्य वर्णन किया जाता है:—

चक्रसम्बन्धसे पितृकृपा अभ्युदयका कारण है ॥८५॥

आवागमनचक्रके विषयमें स्मृति-शास्त्रमें ऐसा कहा है:—

अनुभूतमिदं त्वास्ते युष्माभिः पितरो ध्रुवम्।
मर्त्त्ययोनिं समासाद्य जीवाः सर्वे समन्ततः ॥
आवागमनचक्रेषु प्रविशन्ति न संशयः।
पश्यन्ति किन्तु वै चक्रं भाग्यवन्तो न केऽप्यदः ॥
परिधिस्तस्य चक्रस्य द्विधा भिन्नोऽस्त्यसंशयम्।
तत्रैकः प्रेतलोकोऽस्ति मृत्युलोकोऽपरस्तथा ॥
असौ चक्रस्य परिधिः पितृलोकावधिक्रमात्।
विस्तीर्य प्रथमं पश्चात् नरके स्वरपि ध्रुवम् ॥
विस्तृणाति तपोलोकपर्यन्तं नात्र संशयः।

बीजप्राधान्यं सर्वत्र ॥ ८४ ॥
पितृकृपाऽभ्युदयहेतुश्चक्रसम्बन्धात् ॥ ८५॥

नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिर्विश्वभूतिदाः ॥
तमःप्रधानं प्रथमं चक्रमेतदनन्तरम्।
तमोरजःप्रधानञ्च रजःसत्त्वप्रधानकम् ॥
शुद्धसत्त्वप्रधानं हिं जायते तदनन्तरम्।
ऊर्द्ध्वलोकं ततो मृत्युलोकं व्याप्नोति केवलम् ॥
परिधिस्तस्य चक्रस्य ततोऽन्ते मयि लीयते।

हे पितरो! यह तो आपलोगोंके अनुभवमेंही है कि मनुष्ययोनिको प्राप्त करके सब जीव सब ओरसे आवागमनचक्रमें प्रवेश करते हैं। परन्तु कोई भी भाग्यवान् उस चक्रको नहीं देखते हैं। उस चक्रकी निःसन्देह दो परिधि होती हैं। एकको प्रेतलोक कहते हैं और दूसरेको मृत्युलोक कहते हैं। चक्रकी वह परिधि प्रथम क्रमशः पितृलोक तक विस्तार होती है, तदनन्तर नरकलोकमें विस्तार होती है और वह परिधि स्वर्गलोकमें भी विस्तृत होकर तपोलोकतक पहुँच जाती है, इसमें सन्देह नहीं। हे पितृगण! आप लोगोंको इसविषयमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये। यह आवागमनचक्र प्रथम तमःप्रधान, तदनन्तर तमोरजःप्रधान, तदनन्तर रजःसत्त्वप्रधान, और तदनन्तर शुद्धसत्त्वप्रधान, हो जाता है। तदनन्तर उस चक्रकी परिधि केवल ऊर्द्ध्वलोक और मृत्युलोकव्यापिनी हो रहती है और अन्तमें यह चक्र मुझमें लयको प्राप्त होता है।

आवागमनचक्रका केन्द्ररूप यह मृत्युलोक है। जीव चाहे मृत्युके अनन्तर किसी लोकमें जावे, परन्तु उसे लौट लौटकर यहांही आना पड़ता है; क्योंकि यह मृत्युलोक कर्मभूमि है। इस मृत्युलोकमें जीव मातृगर्भसे जन्म ग्रहण करता है, अन्य लोकोंमें ऐसा नहीं है। यही इस लोककी विचित्रता है। गर्भाधानके समय माता पिताके युग्मशरीरमें पीठकी स्थापना स्वतः हो जाती है। पीठरहस्यको दैवीमीमांसादर्शनने सिद्ध कर दिया है। माताकी आकर्षणशक्ति जब पिताकी विकर्षणशक्तिको परास्त करती है, तो उस समय पीठमें आये हुए देवतागण जीवको मातृगर्भमें पहुँचा देते हैं और नित्य पितृगण उसका स्थूल शरीर बनानेमें सहायक होते हैं। जीवका स्थूल शरीर ही उसके भविष्यत् कर्मसंग्रहमें सहायक होता है; क्योंकि जैसा उत्तम स्थूल शरीर उसको प्राप्त होगा वैसे ही उत्तम कर्म उससे बन सकेंगे। एक ओर

नित्य पितृगण यथावत् स्थूल शरीरको बनाने वाले हैं और दूसरी ओर सृष्टिमें बीजका प्राधान्य होनेके कारण पिताही नित्य पितरोंका प्रतिनिधि बनकर जीवके जन्मका कारण बन जाता है। इस कारण सहजचक्रसे सम्बन्धयुक्त होनेसे, स्थूल शरीरका प्रदाता होनेसे, तथा नित्य पितरोंका प्रतिनिधि होनेसे और गर्भाधान संस्कारका कर्त्ता होनेसे पिता परमपूज्य है और ऐसे परमपूज्यकी पूजा करनेसे धर्म्मलाभके द्वारा अभ्युदयकी प्राप्ति होगी इसमें सन्देह ही क्या है? इस कारण स्मृति शास्त्रमें कहा है:—

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥

पिताही धर्म हैं, पिता ही स्वर्ग हैं और पिता ही परमतपके स्वरूप हैं। पिताके प्रसन्न होनेसे समस्त देवता तृप्त होते हैं॥ ८५॥

प्रसङ्गसे दायभागका विज्ञान कहा जाता है:—

अतएव दायभागकी व्यवस्था है॥ ८६॥

मृत्युलोकमें स्थूलशरीरके सम्बन्धसे परमसहायक होनेके कारण और आवागमनचक्रमें सहायक होनेके कारण जिस प्रकार पितृपूजा विहित है, उसी प्रकार आवागमनचक्रकी पारलौकिकगतिमें सहायक होनेके कारण पुत्र तथा अन्यान्य दायभागके अधिकारी यथावत् अधिकारको स्मृतिशास्त्रके द्वारा प्राप्त करते हैं। प्रेत-श्राद्धके द्वारा प्रेतलोकसे विमुक्ति, श्राद्ध और दानादिक धर्मकार्य्यके द्वारा नरकलोकसे विमुक्ति तथा अन्यलोकमें तृप्तिके विधानसे पुत्र आवागमनके चक्रमें परमसहायक बनता है। इस कारण दायभागका अधिकार भी प्राप्त होता है। इसी विज्ञानके अनुसार अन्यान्य अधिकारी भी दायभागके अधिकारी होते हैं। स्मृतिशास्त्रका दायभाग मोहजनित नहीं, है, धर्मविज्ञानजनित है। स्मृतिशास्त्रमें कहा है:—

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्म्मो वो रतिसंहितः।
आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधत॥
ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा॥

अतएव दायभागो व्यवस्थितः॥ ८६॥

ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम्।
ततोऽर्द्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः॥
ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम्।
येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान्मध्यमं धनम्॥
एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशान्प्रकल्पयेत्।
उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना॥
एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्द्धं ततोऽनुजः।
अंशमंशं यवीयांस इति धर्म्मो व्यवस्थितः॥

स्त्री पुरुषोंके अनुरागयुक्त जो धर्म है, वह आप लोगोंसे कहा गया है और सन्तानके अभावके कारण सन्ततिका जो लाभ है वह भी कहा गया है, अब दायभागकी व्यवस्थाको सुनिये। ज्येष्ठ ही पुत्र पिताके सम्पूर्ण धनको ले सकता है और छोटे लड़के जिस तरह पिताकी आज्ञाका पालन करते थे, उसी तरह ज्येष्ठ भ्राताकी आज्ञाका पालन करें। सब द्रव्योंसे जो उत्तम द्रव्य है, उनमेंसे बिसवां हिस्सा ज्येष्ठ पुत्रको और मध्यम पुत्रको चालिसवां हिस्सा और कनिष्ट पुत्रको अस्सीवां हिस्सा करके लेना चाहिये और बचे हुए धनको बराबर करके ग्रहण करना चाहिये। ज्येष्ठ और कनिष्ठको जैसा कहा गया है वैसा ही धनको ग्रहण करें। ज्येष्ठ और कनिष्ठसे जो भिन्न है अर्थात् मध्यम है उनको चालिसवां हिस्सा लेना चाहिये। इस तरहसे हिस्साको लेकर उससे अधिक बचे हुए धनमें बराबर भाग भाईको देना चाहिये। ऐसा न हो तो आगे कहे हुए श्लोकके अनुसार भागको ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् ज्येष्ठ पुत्र दो भागको ग्रहण करें, तदनन्तर मध्यम भ्रातृगण डेढ़ हिस्सेको लें और कनिष्ठ भाईको एक एक भाग लेना चाहिये॥ ८६॥

प्रसङ्गसे आधिभौतिक शुद्धिका प्राधान्य कह रहे हैंः—

शरीर पार्थिव होनेसे जन्मका प्राधान्य है॥ ८७॥

मृत्युलोकमें स्थूल शरीरकी विशेषता मानी गयी है, इसका कारण यह है कि इस लोकमें माता-पिताके रजोवीर्य्यकी सहायता-

जन्मप्राधान्यं पार्थिवत्वात्॥ ८७॥

से मातृगर्भके द्वारा जीवको स्थूल शरीरको प्राप्त करना होता है। अन्य सूक्ष्मलोकोंमें इस प्रकारसे नहीं करना होता है। दूसरी ओर यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, वर्णधर्मके विचारमें आधिभौतिक शुद्धिकी विशेषता रक्खी गयी है क्योंकि आधिभौतिक शुद्धि आध्यात्मिक आदि शुद्धियोंके समान साध्य नहीं है। अब पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार वर्णाश्रमधर्ममें जन्मका प्राधान्य सिद्ध करनेके लिये कहते हैं कि, पृथिवीतत्त्व-प्रधान मृत्युलोकमें जीवका स्थूल शरीर पृथिवीतत्त्वकी सहायतासे बनता है। इस कारण जन्मको प्रधानता अवश्य स्वीकार करने योग्य है। पृथिवीतत्त्वप्रधान मृत्युलोकमें विना पृथिवीतत्त्वप्रधान शरीरके कदापि कार्य्य नहीं निकल सकता है और वह पृथिवीतत्त्वप्रधान शरीर जन्मके द्वारा ही प्राप्त होता है। इस कारण जन्मका प्राधान्य अवश्य ही स्वीकार करना होगा ॥८७॥

अब दूसरे प्रकारसे विज्ञानकी दृढ़ता कर रहे हैं:—

गुणके आश्रय होनेसे भी ॥ ८८ ॥

स्थूल शरीर त्रिगुणका आश्रय है, इस कारणसे भी वर्णाश्रमधर्ममें जन्मका प्राधान्य मानना ही पड़ेगा। श्रीभगवान्‌ने निजमुखसे भी श्रीगीतोपनिषद्‌में कहा है :—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म्मविभागशः"

गुण और कर्मके विभागानुसार ही मैंने चारों वर्णोंकी सृष्टि की है। पूर्व जन्मके संस्कारके अनुसार जीवका विशेष विशेष वर्णोंमें जन्म होता है। योगदर्शनमें कहा है:—

"सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः"

कर्म्माशयके कारणभूत क्लेशोंके मूलमें रहनेसे उनका फल जाति, आयु और भोग होता है अतः पूर्व जन्मके प्रधान संस्कारोंको अवलम्बन करके मनुष्य एक जाति-विशेषमें जन्म ग्रहण करता है। उस समय पूर्व-संस्कारके अनुसार उसकी प्रकृति बनती है। उस प्रकृतिके अनुसार जिस प्रकारका गुणपरिणाम उसमें होना उचित है, सो उसके स्थूल शरीरमें प्रकट होता है; क्योंकि प्रकृतिका विकाशस्थल स्थूल

गुणाश्रयत्वाच्च ॥ ८८ ॥

शरीर ही है। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि गुणका आधार स्थूलशरीर है और स्थूलशरीर माता-पिताके सम्बन्धसे जन्मके द्वारा प्राप्त होता है। इस कारण स्थूल शरीर गुणका आश्रय होनेसे वर्णाश्रमधर्ममें जन्मका प्राधान्य है यह मानना ही पड़ेगा। यह दूसरी दार्शनिकयुक्ति है, इस कारण इस सूत्रमें 'च' शब्दका प्रयोग हुआ है ॥ ८८ ॥

आधिभौतिक शुद्धिका माहात्म्य वर्णन कर रहे हैं:—

विद्वान् न होनेपर भी आचारवान् ब्राह्मण अन्य वर्णोंसे प्रणम्य है ॥ ८९ ॥

पूर्व्व कथित विज्ञानके अनुसार वर्णाश्रमधर्ममें जन्मका ही सर्व-प्राधान्य और गौरव माना गया है। उसका सर्वप्रधान दृष्टान्त यह है कि यदि किसी मनुष्यने ब्राह्मणजातिमें जन्म ग्रहण किया हो और ज्ञानी अथवा कर्मी अथवा दोनों न भी हो, परन्तु कदाचारी न हो सदाचारी हो, तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णोंसे प्रणम्य अवश्य होगा। इस सूत्रमें जो आचारवान् शब्द है, इसका स्वारस्य यह है कि, पतित ब्राह्मण अवश्य प्रणम्य नहीं होता है और इस सूत्रमें "अपि" शब्द इस मतकी दृढ़ताके लिये प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मणकी महिमाके विषयमें स्मृतिशास्त्रमें अनेक प्रमाण हैं, यथाः-

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥
उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्यात् ब्रह्मणश्चैव धारणात् ।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥

भूतोंमें प्राणविशिष्ट जीव, अर्थात् कीटादि, प्राणियोंमें बुद्धिजीवी पश्वादि और उनसे मनुष्य और मनुष्योंमेंसे ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। मुखसे उत्पन्न होनेसे, क्षत्रिय आदिसे पहिले जन्म होनेसे तथा वेदकी धारणासे सारे संसारका धर्मानुसार ब्राह्मण ही स्वामी है ॥ ८९ ॥

पुनः महत्त्व वर्णन कर रहे हैं:—

तत्त्वज्ञ न होनेपर भी सन्यासी उसी प्रकार हैं ॥ ९० ॥

अविद्योऽप्याचारवान् विप्रः प्रणम्योऽन्यैः ॥ ८९ ॥
अतत्त्वज्ञोऽपि सन्यासी तथा ॥ ९० ॥

पूर्व सूत्रमें वर्णधर्मके उदाहरणसे अपने विज्ञानकी दृढ़ता करके अब आश्रमधर्म्मके दृष्टान्त द्वारा दृढ़ता सम्पादन कर रहे हैं। आधिभौतिक तथा जन्मप्राधान्य हेतु जैसे वर्णगुरु ब्राह्मण केवल जन्मके विचारसे ही अन्य वर्णोंका प्रणम्य होता है, ठीक उसी प्रकार केवल ब्राह्मणजातिमें जन्म और सन्यासका संस्कार होनेके कारण तत्त्वज्ञ न होनेपर भी सन्यास आश्रमधारी व्यक्ति अन्य आश्रमोंके व्यक्तियोंका प्रणम्य होता है। यद्यपि सन्यासीके ब्राह्मणवर्णमें जन्म और सन्याससंस्कारसे संस्कृत होनेपर भी यथायोग्य कर्म्मी और ज्ञानी होनेकी आवश्यकता है, परन्तु केवल जन्मके सम्बन्धसे ब्राह्मण होनेसे और सन्यास संस्कारके द्वारा उसके लिङ्ग आदिका आधिभौतिक परिवर्त्तन होते ही वह अन्य आश्रमधारियों का प्रणम्य होता है। अपने विज्ञानमें दूसरे उदाहरणके द्वारा दृढ़ता सम्पादित हुई है, इस कारण सूत्रमें 'अपि' शब्दका प्रयोग हुआ है। सन्यासीको महिमाके विषयमें स्मृतिशास्त्रने इसी कारण ऐसा कहा है:—

अतो विवेकसम्पन्नः सन्यासी विमलाशयः।
ज्ञानाब्धिपारगो देवाः! श्रद्धेयो भवतामपि॥

ज्ञानके सहित, निर्मल हृदय वाले और ज्ञानरूपी समुद्रके पार जानेवाले सन्यासी देवताओंके भी पूज्य हैं॥ ९०॥

आधिभौतिक शुद्धिका वर्णन करके अब अन्य शुद्धियोंका वर्णन कर रहे हैं:—

अन्य यत्नसाध्य है॥ ९१॥

आधिभौतिक शुद्धि केवल जन्मसे सम्बन्ध रखती है साधनसे नहीं। परन्तु आधिदैविकशुद्धि और आध्यात्मिकशुद्धि जन्मसे सम्बन्ध नहीं रखतीं, साधनसे सम्बन्ध रखती हैं। यद्यपि पूर्वजन्मके संस्कारसे मनुष्योंमें कर्म, उपासना तथा ज्ञानार्जन करनेकी योग्यता प्राप्त होती है; परन्तु कर्म, उपासना और ज्ञानार्जन पुरुषार्थ साध्य हैं, इसमें सन्देह नहीं। अपने अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार कर्म और उपासना करनेसे अधिदैवशुद्धि प्राप्त होती है और शास्त्र

यत्नादन्ये॥ ९१॥

आदिका ज्ञान लाभ करनेसे तथा आत्मा अनात्माके विचार करनेसे तत्त्वज्ञानके द्वारा आध्यात्मिक-शुद्धि प्राप्त होती है। अतः सिद्ध हुआ कि, आधिभौतिक-शुद्धिके अतिरिक्त अन्य दोनों शुद्धियां साध्य हैं॥ ९१॥

वर्णाश्रमधर्मकी मूलभूत आधिभौतिक शुद्धिका वर्णन करके अब वर्णाश्रमधर्मकी महिमा कह रहे हैं:—

वर्णाश्रमके द्वारा स्थूल और सूक्ष्मकी रक्षा होती है ॥९२॥

वर्णधर्म और आश्रमधर्मके द्वारा स्थूलसृष्टिरूपी मृत्युलोक और सूक्ष्मसृष्टिरूपी दैवलोकका संरक्षण होता है। वर्णाश्रमधर्मके द्वारा मनुष्यजाति अपने ज्ञानके संरक्षणपूर्वक जीवित रहती है। वर्णाश्रमहीन मनुष्यजाति कालान्तरमें पशुवत् हो जाती है। इसी कारण मनुष्यजातिका रक्षक वर्णाश्रमधर्म स्थूलसृष्टिका संरक्षक है। वर्णाश्रमधर्मके द्वारा पितृगण, देवतागण और ऋषिगण सम्वर्द्धित होते हैं। अतः वर्णाश्रमधर्म्म स्थूल और सूक्ष्मसृष्टिका संरक्षक है। वर्णाश्रमधर्मके प्रधान आठ उपकारोंके विषयमें स्मृतिशास्त्रमें कहा है:—

आर्य्यजातेर्बीजरक्षाऽऽध्यात्मिकी च क्रमोन्नतिः।
पितॄणां वर्द्धनाऽनल्पा तत्कृपाप्राप्तिरेव च॥
सहोच्चैर्देवलोकैश्च सम्बन्धस्थापनं भृशम्।
विबुधानां प्रसादश्च विश्वमङ्गलसाधकः॥
तथा स्वभावसंसिद्धसंस्कारोदयसाधनम्।
बीजरक्षाऽऽत्मबोधस्य कैवल्याधिगमोऽपि च॥
वर्णाश्रमाणां धर्म्माणामष्टावेतानि मुख्यतः।

आर्यजातिकी बीजरक्षा, आध्यात्मिक क्रमोन्नति, पितरोंका सम्वर्द्धन और उनकी विशेष कृपाप्राप्ति, ऊर्द्ध्व दैव लोकोंके साथ अतिशय सम्बन्ध संस्थापन, विश्व-मंगल-कारिणी देवताओंकी प्रसन्नता, स्वाभाविक संस्कारोंका उदय करना, आत्मज्ञानकी बीज-रक्षा और कैवल्याधिगम ये वर्णाश्रमधर्मके आठ प्रधान प्रयोजनीय कर्म तत्त्वपारगोंने कहे हैं॥ ९२॥

वर्णाश्रमाभ्यां स्थूलसूक्ष्मे रक्ष्ये॥ ९२॥

और भी महत्त्व कहा जाता है:—

उपकार अनन्त हैं ॥६३॥

स्थूलराज्य और दैवराज्य दोनोंके संरक्षण करनेके अतिरिक्त वर्णाश्रमधर्मके द्वारा और भी अनन्त उपकार होते हैं। यद्यपि स्थूल और दैव दोनों राज्योंके साथ सब विषयोंका सम्बन्ध है, क्योंकि सृष्टि-प्रपञ्च दोनों भागोंमें विभक्त है इस कारण साधारणतः पूर्व्वकथित दोनों उपकारके अन्तर्गत सब कुछ आसकता है। अब इस सूत्रके आविर्भावका तात्पर्य्य यह है कि, ऐसा कोई मनुष्यके अभ्युदयका कार्य नहीं है, जिसका सहायक वर्णाश्रम न हो। इस सूत्रमें अनन्त शब्दका प्रयोग इसी कारण किया गया है। दैवराज्योंमें ऋषिगणका सम्वर्द्धन, देवताओंका सम्वर्द्धन, नित्य पितरोंका सम्वर्द्धन, परलोकगामी नारकी आत्माओंका उद्धार, असुरोंको वलशाली न होने देना और देवताओंकी वलवृद्धिमें सहायक होना, मनुष्यजातिमें काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष इन चतुर्वर्गोंका यथाक्रम यथाधिकार प्रदान कराना, आत्मज्ञानकी शृङ्खला मृत्युलोकसे नष्ट न होने देना, प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म इन दोनोंकी शृङ्खला चिरकालपर्य्यन्त वनाए रखना, त्रिलोकपवित्रकारी सतीधर्म्मका बीज नष्ट न होने देना, मनुष्यसमाजमें विद्यावल, धनबल, मनुष्यसङ्घबल और बुद्धि-वलका विकाश बनाए रखना, रजोवीर्य्यकी शुद्धि उन्नत आर्य्य-जातिमेंसे नष्ट होने न देना, आर्य्यजातिको चिरजीवी बनाए रखना इत्यादि अनन्त फल वर्णाश्रमधर्म्मसे प्राप्त हो सकते हैं, यह मानना ही पड़ेगा। इस विज्ञानके मौलिक सिद्धान्तसमूहका दिग्दर्शन आगे सूत्रोंमें किया जायगा ॥ ६३ ॥

अब विशेषताके साथ कह रहे हैं:—

आर्य्यजातिकी बीजरक्षा होती है ॥६४॥

सृष्टिकी प्रथम अवस्थामें सनक, सनन्दन आदि चार परमहंस जन्मे थे। उसके अनन्तर प्रजापतिगण उत्पन्न हुए थे। ये दोनों श्रीभगवान् ब्रह्माजीकी सृष्टि हैं। प्रजापतियोंके द्वारा जो पहली

उपकारानन्त्यम् ॥ ६३ ॥
बीजरक्षणमार्य्यजातेः ॥ ६४ ॥

मनुष्यसृष्टि हुई थी, वे सब ब्राह्मण हुए थे। जिसका प्रमाण पहले दिया गया है। ब्राह्मणसे वैजी सृष्टि होनेपर क्रमशः मनुष्योंकी अवनति होने लगी। मनुष्यजातिके उस निम्नगामी स्रोतको रोकनेके लिये श्रीमनुमहाराजने वर्णाश्रमरूपी बन्धकी व्यवस्था की है। यह वर्णाश्रमबन्ध आर्य्यजातिको असभ्य और अनार्य्य होकर नष्ट-भ्रष्ट होनेसे रोकता है। कर्म तीन प्रकारके हैं। यथा जैव पैश और सहज, जिसका वर्णन इस दर्शनमें पीछे आवेगा। मनुष्यसे इतर जीव जिससे चालित होते हैं, उसको सहज कर्म कहते हैं। दैव-जगत् जिससे चालित होता है, उसको पैश कर्म कहते हैं और मनुष्य-गण जिससे चालित होते हैं, उसको जैव कर्म कहते हैं। पुण्य, पाप दोनोंके अधिकारी बन जानेसे और स्वाधीनताके साथ निरङ्कुशता आजानेसे जैवकर्मका अधिकारी मनुष्य स्वभावतः नीचेकी ओर गिरता रहता है; क्योंकि वह अपने पिण्डका अधीश्वर हो जानेसे क्रमशः निरङ्कुश बन जाता है। पृथिवीमें अगणित अनार्य्य जातियां इस प्रकारसे निरङ्कुश होकर लुप्त हो गयी हैं। इस दशामें वर्णाश्रम-धर्मरूपी बन्ध ही आर्य्यजातिके स्रोतको नीचेकी ओर गिरकर लुप्त हो जानेसे रोकता है। फलतः वर्णाश्रमधर्म इस विज्ञानके अनुसार आर्य्यजातिका बीजरक्षक है, ऐसा मानना ही पड़ेगा ॥९४॥

और भी विशेषता कह रहे हैंः—

आध्यात्मिकी क्रमोन्नति होती है ॥९५॥

जीव जब अन्य योनियोंसे आगे बढ़कर मनुष्ययोनिमें पहुंचता है, तब आवागमनचक्रका अधिकारी होता है और तदनन्तर आवागमनचक्रमें निरन्तर फिरता रहता है। मृत्युलोक कर्म-भूमि होनेके कारण उसीमें आकर जीवको कर्म करके उन्नति करने अथवा अवनति करनेके संस्कार संग्रह करनेका अवसर मिलता है। अन्य सब ऊर्द्ध्व और अधोलोक भोगभूमि हैं, कर्म्मभूमि नहीं है।

संस्कार ही कर्मका बीज होनेके कारण वर्णाश्रमके अन्तर्गत जीव क्रमशः अपनेमें एक संस्कारसे दूसरा उन्नत संस्कार प्राप्त करता हुआ ज्ञानमय अधिकारकी ओर अग्रसर होता है। जन्मा-

क्रमोन्नतिराध्यात्मिकी ॥९५॥

न्तरवादके विज्ञानपर पूर्ण विश्वास रहनेके कारण चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके अधिकारोंमें वर्णाश्रमधर्म्मी मनुष्यको परस्पर ईर्ष्या, द्वेष करनेका अवसर नहीं मिलता है। प्रत्येक वर्णको रजोवीर्य्य-शुद्धि, प्रत्येक वर्णका धर्मसंस्कार और प्रत्येक आश्रमके धर्म्म-साधनका अभ्यास मनुष्यको नियमितरूपसे आत्मज्ञानकी ओर आगे बढ़ा देता है। चारों वर्णोंमें चारों साध्य वासनाओंको तृप्त करके प्रथम दो आश्रमोंमें प्रवृत्तिरोध करते हुए और अन्तिम दो आश्रमोंमें निवृत्तिसंस्कारकी उन्नति करते हुए अन्तमें वह मनुष्य आत्मज्ञानी बनकर स्वस्वरूप-पारावारमें पहुँच जाता है। वर्णाश्रमरहित मनुष्यजातिमें इस प्रकार क्रमोन्नतिका बन्धन और नियमबद्ध व्यवस्था नहीं रह सकती है। अस्तु, जिस मनुष्यजाति-में वर्णाश्रमधर्मकी सुव्यवस्था है, उस जातिमें मनुष्योंकी आध्या-त्मिक क्रमोन्नति होना स्वाभाविक है और वर्णाश्रमधर्म्मी ही आवा-गमनचक्रमें फिरकर नियमितरूपसे अपनी क्रमोन्नति करनेमें समर्थ होता है; क्योंकि चारों वर्णोंमें अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष इन चारों लक्ष्योंकी शृंखला है और चारों आश्रमोंमें प्रवृत्ति और निवृत्तिकी शृंखला है। इसका विस्तारित विज्ञान इस दर्शनमें पीछे आवेगा ॥ ९५ ॥

और भी विशेषता कहते हैं:—

पितरों की सम्वर्द्धना और उनकी कृपा प्राप्त होती है ॥९६॥

यह शास्त्रसिद्ध है, कि जीव मनुष्ययोनिमें पहुंचकर पहले प्रेत-लोकमें जाने लगता है और वहांसे पुनः असभ्य मनुष्य होकर जन्म ग्रहण करता है। तदनन्तर वह क्रमशः नरकलोक और पितृलोक-में पहुंचने लगता है। पितरोंकी कृपासे ही मनुष्यको माता-पिताके रजोवीर्य्य द्वारा यथायोग्य स्थूल शरीर मिलता है, परन्तु अर्य्यमा आदि नित्य पितृगणकी पूरी कृपादृष्टि उसी मनुष्यजातिपर पड़ती है, जो मनुष्य जातिगत रजोवीर्य्यकी शुद्धिका अधिकारी बन जाता है। तब पितरोंको यह निश्चय हो जाता है कि; ऐसी मनुष्यजाति-की सुरक्षा वे कर सकेंगे। पितरोंका दार्शनिक रहस्य दैवीमीमांसा-

पितृसम्वर्द्धना तत्कृपाप्राप्तिश्च ॥ ९६ ॥

दर्शनमें भली प्रकारसे वर्णित है। जिस मनुष्यजातिमें वर्णाश्रम-धर्मकी व्यवस्था है, उसमें आध्यात्मिक उन्नतिका क्रम ठीक ठीक बना हुआ है। इस कारण उन आचारोंसे पितरोंके कार्यमें सुगमता होती है। वर्णाश्रमधर्म रजोवीर्य्यकी शुद्धि रखता है, इस कारण पितृगण प्रसन्न होकर सम्वर्द्धित होते हैं और कृपापूर्व्वक कुल और जातिके सहायक बने रहते हैं। वर्णाश्रमधर्म्मका यह एक असाधारण फल है॥ ९६॥

और भी कह रहे हैं:—

देवलोकके साथ सम्वन्ध स्थापन होता है॥ ९७॥

दैवीमीमांसा अर्थात् मध्यमीमांसामें दैवराज्य तथा उसके चालकोंका विस्तारित विज्ञान विवृत है। कर्म्म और सूक्ष्मराज्यके चालक देवतागण और असुरगण हैं। असुर भी एक श्रेणीके देवता हैं। असत् और तमका सम्वन्ध असुरोंके साथ और सत् तथा सत्त्वका सम्वन्ध देवताओंके साथ है। वर्णाश्रमके सदाचार द्वारा मनुष्यजाति स्वभावसे ही सत्त्वगुणमयी हो जाती है। इस कारण देवताओंके साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सुतरां वर्णाश्रमके द्वारा देवलोकके साथ सम्बन्ध होना स्वाभाविक है॥ ९७॥

पुनः कह रहे हैं:—

देवताओंकी प्रसन्नता होती है॥ ९८॥

वर्णाश्रममर्य्यादाके यथारीति पालन द्वारा क्रमशः सत्त्वगुणकी अभिवृद्धि होनेसे अविद्याका नाश हो जाता है। तदनन्तर मनुष्य-जातिको विद्याकी सहायता प्राप्त होती है और कर्म्म, उपासना, ज्ञानकी समता स्थापन होकर आध्यात्मिक उन्नति होती है। इस प्रकार यथाक्रम सत्त्वगुणके नियमितरूपसे अभिव्यक्ति होते रहनेसे तथा पूर्व्व सूत्रोंमें उल्लिखित कारणोंसे देवतागण प्रसन्न रहते हैं। विशेषतः यज्ञ और महायज्ञका अनुष्ठान वर्ण और आश्रमधर्ममें निय-

देवलोकसम्बन्धः॥ ९७॥

देवप्रसादः॥ ९८॥

मितरूपसे होते रहनेसे देवताओंकी प्रसन्नता स्वतः होनेका अवसर रहता है। इस विषयको यों भी समझ सकते हैं कि, वर्णाश्रमधर्मके द्वारा इन्द्रियभावयुक्त आसुरी वृत्ति घटती है और आत्मासे युक्त दैवी वृत्ति बढ़ती है। वर्णधर्म तो स्वतः ही कामसे अर्थकी ओर तथा अर्थसे धर्मकी ओर और धर्मसे मोक्षकी ओर जीवको ले जाता है। उसी प्रकार आश्रमधर्म पहले प्रवृत्तियोंको रोककर निवृत्तिकी पूर्णतामें पहुंचा देता है। इस कारण वर्णाश्रमधर्म क्रमशः मनुष्यमें दैवभाव बढ़ाता है, यह निःसन्देह है। इस कारण दैवभावको बढ़ाने वाला और आसुरिकभावको घटाने वाला वर्णाश्रमधर्म जिस ज़ातिमें विद्यमान है, उसमें विश्वमंगलकारिणी देवताओंकी प्रसन्नता स्वतः होगी ॥ ९८ ॥

पुनः कह रहे हैंः—

स्वाभाविक संस्कारका उदय होता है ॥ ९९ ॥

इस दर्शनके संस्कारपादमें दिखाया गया है कि, स्वाभाविक संस्कार मुक्तिके कारण और अस्वाभाविक संस्कार बन्धनके कारण होते हैं और यह भी उसी अध्यायमें दिखाया गया है कि, वर्णाश्रमधर्मके अनुसार जो वैदिक संस्कारसमूह रक्खे गये हैं, वे सब स्वाभाविक संस्कारकी उन्नति करनेवाले हैं। पूज्यपाद महर्षियोंने वर्ण और आश्रमके आचारसमूह इस प्रकारसे स्थिर किये हैं, कि, उन सबमें उत्तरोत्तर अस्वाभाविक संस्कार शिथिल होकर जीवके स्वाभाविक संस्कार परिपुष्ट होते रहते हैं। सुतरां वर्णाश्रमके द्वारा मनुष्यको मुक्ति देने वाला स्वाभाविक संस्कार नियमित बढ़ता रहता है। शूद्रसे वैश्यमें तमोरज, वैश्यसे क्षत्रियमें रजःसत्त्व और क्रमशः ब्राह्मणमें भी सत्त्वप्रधान संस्कार उत्पन्न होते हैं। सन्यासमें जाकर वे स्वाभाविक संस्कारमें परिणत होते हैं। इस प्रकारसे जीव वर्णाश्रमधर्मसे उन्नत होता हुआ जीवन्मुक्त पदकी ओर अग्रसर होता है। वर्णाश्रमधर्मकी विलक्षणता यह है कि, स्वाभाविक संस्कार ,वर्णाश्रमधर्मके द्वारा अधिकाधिक परिस्फुटित हुआ करता है ॥ ९९ ॥

स्वाभाविकसंस्कारोदयः ॥ ९९ ॥

पुनः कह रहे हैं:—

आत्मबोधकी बीजरक्षा होती है ॥ १०० ॥

इस घोर परिवर्त्तनपूर्ण मृत्युलोकमें, इस शक्तिशालिनी कर्म्म-भूमिमें मनुष्य सत्कर्मके बलसे देवता भी बन सकता है और असत्कर्मसे पशु भी बन सकता है। इस कारण इस भयको सम्भावना है कि, मनुष्यजातियां क्रमशः सभ्यसे असभ्य पशुवत् हो जा सकती हैं, क्योंकि मनुष्य अपने पिण्डका अधीश्वर होनेसे उसकी उद्दाम इन्द्रियप्रवृत्ति उसको सदा नीचेकी ओर ही ले जाया करती है। इसका विज्ञान पहले कहा गया है। परन्तु जिस मनुष्यजातिमें प्रवृत्तिसे निवृत्तिका आदर अधिक मानकर ब्राह्मणवर्णको भूदेव करके माना गया है; ब्राह्मणगण निवृत्ति परायण होते हैं और राजा गण उन्हींकी आज्ञा लेकर राज्यशासन करना अपना धर्म समझते-हैं,उस मनुष्यजातिमें आत्मज्ञानके बीजकी रक्षा होना स्वतः सिद्ध है। जिस मनुष्यजातिमें महाराजाधिराज चक्रवर्त्तीको तो केवल नारायणका अंश करके माना गया है, परन्तु कौपीनधारी भिक्षुक सन्यासीको केवल आत्मज्ञानकी प्रधानतासे ही मूर्त्तिमान् नारायण समझा जाता है, उस मनुष्यजातिमें आत्मज्ञानकी बीजरक्षा होना सहज ही है। जिस मनुष्यजातिमें शारीरिक, वाचनिक और मानसिक सब कर्म्मोंमें अध्यात्म-लक्ष्य हो सर्वोपरि माना गया है और वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीधर्म और सब सदाचारोंमें आत्मज्ञानकी क्रमोन्नति-को ही सामने आदर्शरूप रक्खा गया है, उस जातिमें आत्मज्ञानकी बीजरक्षा होनी स्वतः सिद्ध है। अतः ऐसी सुव्यवस्थासे निश्चित किये हुए वर्णाश्रमधर्मके द्वारा आत्मज्ञानकी बीजरक्षा सदा पृथ्वीपर बनी रहनी स्वाभाविक है ॥ १०० ॥

पुनः कह रहे हैं:—

निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है ॥ १०१ ॥

कर्म्मका पूर्णाधिकार और रजोवीर्य्यकी शुद्धि द्वारा अधिभूत शुद्धि, उपासनाका पूर्णाधिकार और ईश्वरसम्बन्धीय ज्ञानकी पूर्णताके

बीजरक्षणमात्मबोधस्य ॥ १०० ॥
निःश्रेयसाधिगमः ॥ १०१ ॥

द्वारा अधिदैवशुद्धि और पूर्व्वकथित कारणोंसे आध्यात्मिक शुद्धि होकर तत्त्वज्ञान स्वतः ही हो जाता है। यह तो स्वतः सिद्ध है कि, वर्णाश्रमधर्म्ममें मुक्तिको प्रधान लक्ष्य करके माना गया है। वर्णगुरु ब्राह्मणके सब धर्म ही मोक्षके लक्ष्यसे युक्त हैं। उसी प्रकार आश्रम-गुरु सन्यासी तो मुक्तिपदकी मूर्त्ति ही है। सुतरां वर्णाश्रमधर्म्ममें कैवल्याधिगमका लक्ष्य अपने आप ही सिद्ध होता है ॥ १०१ ॥

वर्णाश्रमधर्मके उपकारोंका वर्णन करके अब उसकी अधोगतिसे बचानेवाली शक्तियोंका वर्णन कर रहे हैं—

तपके द्वारा ब्रह्मतेजकी सुरक्षा होती है ॥ १०२ ॥

वर्णाश्रमधर्म किस प्रकार अनन्त उपकारमय है, उसका दिग्द-र्शन पूर्व्व सूत्रोंमें भलीप्रकार करके अब पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार वर्णाश्रमियोंमें रहनेवाली शक्तियोंका वर्णन कर रहे हैं। जो शक्ति वर्णाश्रमधर्मियोंको रक्षा करती है और उनको नीचे गिरनेसे बचाती है, उस ऊपरकी ओर खैंचनेवाली शक्तिको तेज कहते हैं। तेजके विषयमें स्मृतिशास्त्रमें ऐसा कहा हैः—

या मे शक्तिः सदा जीवान् समाकर्षति माम्प्रति ।
तदेव तेजः सम्प्रोक्तं यतो वेदान्तपारगैः ॥

जो मेरी शक्ति जीवोंको सर्वदा मेरी ओर आकर्षित करती है, उसीको वेदान्त-पारगगण तेज कहते हैं।

ऊपर लिखित प्रमाणोंसे सिद्ध हुआ कि, तेज किस शक्तिको कहते हैं। उसके दो भेद हैं। प्रथम ब्राह्मतेज जो ब्राह्मणोंमें होता है और दूसरा क्षात्रतेज जो क्षत्रियोंमें होता है। वस्तुतः ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये ही दोनों धर्मके रक्षक होते हैं। इसी कारण इन्हीं दोनों वर्णोंमें तेजकी स्थिति है। अन्य वर्णोंमें उनकी स्वाभाविक स्थिति नहीं हो सकती है। क्योंकि स्मृतिमें कहा हैः—

"ब्राह्मणा धर्मवक्तारः क्षत्रियो धर्म्मपालकः"

ब्राह्मणगण अपनी ज्ञानशक्तिके द्वारा धर्म्मको बताने वाले हैं और क्षत्रियगण अपनी राजशक्तिके द्वारा धर्मका पालन करने और करावे वाले हैं। उन दोनोंमें रहने वाले ये दोनों यथाक्रम तेज हैं। उन दोनों

तेजोंमेंसे प्रथम ब्राह्मतेज ब्राह्मणोंमें कैसे सुरक्षित होता है, सो इस सूत्र-में कहा जाता है। तपोधर्मके द्वारा ब्राह्मतेजकी सुरक्षा होती है। ब्राह्मतेज मुक्तिप्रद है और क्षात्रतेज अभ्युदयप्रद है। उन दोनोंमेंसे ब्राह्मतेजके अधिक बलशाली होनेसे वह परमशक्तिशाली तपोधर्मके द्वारा सुरक्षित होता है। तपोधर्मका स्वरूप पहले ही वर्णन कर चुके हैं। ब्राह्मणगण अपनेमें तपस्या द्वारा जितना जितना ब्राह्मतेजको बढ़ायेंगे, उतना ही वे जगत्‌में वर्णाश्रमधर्मकी सुरक्षा करनेमें समर्थ होंगे और वर्णाश्रमधर्मियोंको नीचे गिरने नहीं देंगे ॥ १०२ ॥

अब दूसरेका वर्णन कर रहे हैं:—

दानके द्वारा क्षात्रतेजकी ॥ १०३ ॥

ब्राह्मणोंमें ब्राह्मतेजकी सुरक्षा जिस प्रकार तपोधर्मके द्वारा होती है, उसी प्रकार क्षत्रियोंमें क्षात्रतेजकी सुरक्षा दानधर्मके द्वारा होती है। ब्राह्मतेजकी सुरक्षाके लिये जितनी कठिनता है, क्षात्रतेजकी रक्षाके लिये उतनी कठिनता नहीं है। ब्राह्मणको संसारके सब ऐश्वर्य्यों तथा इन्द्रियसुखोंको त्याग करके केवल एक मात्र तपका आश्रय लेकर रहना चाहिये। उसी प्रकार क्षत्रियोंको ऐश्वर्य्यशाली और भोग-परायण होनेपर भी दानधर्मको मुख्य समझना चाहिये। अनुदार, कृपण और दानधर्मविहीन क्षत्रियमें क्षात्रतेज कदापि नहीं रह सकता है। तपोधर्मका विज्ञान सामने रखकर स्वतः ही प्रतिपन्न होगा कि, तपःशक्ति किस प्रकार ब्रह्मतेजको बढ़ाती है। उसी उदाहरणपर उदारता, निर्लोभता और सात्त्विक दानमें सच्ची प्रवृत्ति रखनेसे क्षत्रियगण उन्नत बने रहते हैं और अपनेमें क्षात्रतेजकी रक्षा करके वर्णाश्रमधर्मियोंको नीचे गिरनेसे रोकते हैं ॥ १०३ ॥

दोनोंका निर्गमन कैसे होता है सो कहा जाता है:—

दोनोंका निर्गमन योग और युद्धके द्वारा होता है ॥ १०४ ॥

क्षात्रं दानेन ॥ १०३ ॥
उभयोर्निर्गामी योगाहवाभ्याम् ॥ १०४ ॥

पूर्व सूत्रसे यह सिद्ध हुआ कि, यदि ब्राह्मणगण तपस्याको मुख्य समझकर अपनेमें ब्राह्मतेजकी रक्षा करें और क्षत्रियगण दानधर्मके अवलम्बन द्वारा अपने क्षात्रतेजकी सुरक्षा किया करें, तो वे स्वयं नीचेकी ओर नहीं गिरेंगे और मनुष्यसमाजको भी नीचेकी ओर गिरनेसे बचावेंगे। अब इस सूत्रके द्वारा पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार सिद्ध कर रहे हैं कि, अन्तमें उन दोनोंको यह तेज किस प्रकारसे उन्नतिमार्गमें ले जाता है। ब्रह्मतेज ब्राह्मणको शरीर छोड़ते समय योगशक्तिके द्वारा ऊर्द्धलोकमें पहुंचा देता है और उसी प्रकार क्षात्रतेज धार्मिक क्षत्रियको युद्धमृत्युमें ऊर्द्धलोकमें पहुंचाता है। ब्राह्मणके लिये योगयुक्त होकर शरीर छोड़ने और क्षत्रियको युद्धमें शरीर छोड़नेके अतिरिक्त और शुभ योग कुछ भी समझने योग्य नहीं है। योगके द्वारा आत्माका अनुसन्धान बना रहता है और युद्धके द्वारा धर्म्मानुसन्धान बना रहता है। योगका अवसर तो ब्राह्मणको मिलता ही है; क्योंकि ब्राह्मण ज्ञानी, योगी और तपस्वी होते ही हैं। परन्तु क्षत्रियके लिये यदि धर्मयुद्धमें शरीरत्यागका अवसर न हो, तो क्या करना उचित है? इस प्रकारकी शङ्काका समाधान यह है कि, ऐसा न होनेपर क्षत्रियको योगयुक्त होकर शरीर त्याग करनेके लिये प्रस्तुत रहना उचित है। क्योंकि योग वर्णाश्रमके किसी अधिकारसे विरोध नहीं रखता है ॥ १०४ ॥

दोनोंका साक्षात् फल कहा जाता है:—

वे अभ्युदय और निःश्रेयसप्रद हैं ॥१०५॥

ब्रह्मतेज निःश्रेयसप्रद और क्षात्रतेज अभ्युदयप्रद है। जैसे सभामण्डप अथवा यज्ञमण्डप खम्भोंके बलसे और खम्भोंपर ही खड़ा रहता है, ठीक वैसे ही वर्णधर्म और आश्रमधर्म ब्राह्मण और क्षत्रियके बल तथा सहारेपर ही प्रतिष्ठित रहता है। वर्णधर्म न रहे तो आश्रमधर्म रह ही नहीं सकता, क्योंकि वर्णधर्म आश्रमधर्मको भित्ति है। ठीक उसी प्रकार यदि ब्राह्मण और क्षत्रियोंका संयुक्त बल न रहे, तो वर्णाश्रमधर्ममेंसे किसीकी भी स्थिति नहीं रह सकती

ते निःश्रेयसाऽभ्युदयप्रदे ॥ १०५ ॥

है। अभ्युदयके सब कार्य्य क्षत्रियगणके द्वारा सुरक्षित होते हैं और निःश्रेयसका मार्ग ब्राह्मणोंके द्वारा सुरक्षित रहता है। इस प्रकारसे दोनों एक दूसरेके सहायक बनते हुए जगत्की रक्षा और आवागमन-चक्रकी सुव्यवस्था करते रहते हैं। इस विषयको अन्य प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, सब प्रकारके धर्म्मोंकी सुरक्षा धार्मिक राजानुशासनके द्वारा होता है और मोक्षप्रद ज्ञानमार्गकी सुरक्षा ब्राह्मण-कृपासे संसाधित होती है। इस कारण क्षात्रतेज को अभ्युदयप्रद और ब्राह्मतेजको निःश्रेयसप्रद अवश्य ही मानेंगे ॥१०५॥

प्रसंगसे चतुर्वर्गसम्बन्ध चतुर्वर्णके साथ दिखाया जाता हैः—

चतुर्वर्णमें यथाक्रम चतुर्वर्ग है ॥ १०६ ॥

संसारमें जो कुछ कोई कार्य्य करता है, वह कुछ लक्ष्य रखकर करता है और जितने प्रकारके लक्ष्य हैं वे चार भागमें विभक्त हैं। वे ही चतुर्वर्ग कहाते हैं। उन चारों वर्गोंके नाम यथा—काम, अर्थ धर्म और मोक्ष। इन चारोंके साथ यथा क्रम चारों वर्णधर्मका सम्बन्ध है। प्रत्येक वर्णके धर्मपर ध्यान देनेसे ही इस विज्ञानकी सार्थकता स्वतः होती है। इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें भी कहा हैः—

स्वभावतो नियोज्येरन् प्राणिनां सम्प्रवृत्तयः।
चतुर्धा नात्र सन्देहो विद्यते विश्वभूतिदाः ! ॥

हे पितृगण! जीवकी प्रकृति स्वभावतः चार प्रकारसे नियोजित होती है ॥१०६॥

शूद्र-धर्म कहा जाता हैः—

शूद्र कामप्रधान है ॥ १०७ ॥

इस संसारमें चार प्रकारके लक्ष्यमेंसे किसी एक प्रकारके लक्ष्यसे ही मनुष्यप्रकृति नियोजित होना स्वतःसिद्ध है। शूद्रप्रकृति कामलक्ष्यको सामने रखकर परिणामिनी होती है। क्योंकि काम लक्ष्य सबसे प्रथम है। इसी कारण स्मृतिशास्त्रमें भी कहा हैः—

चातुर्वर्ण्ये चतुर्वर्गः ॥ १०६॥
कामप्रधानः शूद्रः ॥ १०७ ॥

प्रकृतिः शूद्रवर्णस्य दासी कामस्य सत्यलम्।
तमोधाराश्रिता शश्वज्जायते परिणामिनी॥

शूद्रवर्णकी प्रकृति कामकी दासी होकर तमकी धाराको आश्रय करती हुई परिणामिनी होती है। यही कारण है कि, शूद्रके स्वाभाविक धर्मके विषयमें गीतोपनिषद्में कहा है:—

"परिचर्य्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।"

अर्थात् शूद्रका स्वाभाविक कर्म सेवा कहा गया है॥ १०७॥

वैश्य-धर्म कहा जाता है:—

वैश्य अर्थ-प्रधान है॥ १०८॥

उसी वैज्ञानिक नियमके अनुसार वैश्यवर्णकी प्रकृति अर्थलक्ष्ययुक्त होकर नियोजित होती है। गीतोपनिषद्में वैश्यके स्वाभाविक कर्मके विषयमें कहा है:—

"कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।"

कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं। इसी विज्ञानकी पुष्टिमें स्मृतिशास्त्रने आज्ञा की है:—

प्रकृतिर्वैश्यवर्णस्य सत्यर्थानुचरी सदा।
अस्मिन् प्रधानतो लोके जायते परिणामिनी॥

वैश्यवर्णकी प्रकृति सदा धनकी दासी होकर परिणामिनी होती है॥ १०८॥

क्षत्रिय-धर्म कहा जाता है:—

क्षत्रिय धर्मप्रधान है॥ १०९॥

शूद्रप्रकृति और वैश्यप्रकृति यथाक्रम काम और अर्थको लक्ष्यमें रखकर परिणामिनी होती है। काम और अर्थ इन्द्रियसेवामूलक होनेसे उनके सम्बन्धकी प्रकृतिमें किसी प्रकार तेजका संरक्षण नहीं हो सकता है। इसी कारण तेजकी स्थिति क्षत्रिय-

अर्थप्रधानो वैश्यः॥ १०८॥
धर्मप्रधानः क्षत्रियः॥ १०९॥

धर्म और ब्राह्मणधर्ममें होती है इसका प्रमाण पहले ही दिया गया है। अब इस सूत्रके द्वारा उस विज्ञानकी और भी पुष्टि हो रही है। धर्म तथा आत्मज्ञान ही जीवको भगवत्तेजःशक्तिके द्वारा आत्माकी ओर खींच सकता है। उनमेंसे प्रथम धर्मको लक्ष्यमें रखकर क्षात्र-तेजःसम्पन्न क्षत्रियवर्णकी प्रकृति आत्माकी ओर परिणामिनी होती है। इसी कारण स्मृति शास्त्रमें कहा है:—

क्षत्रियप्रकृतिर्धर्म्मलक्ष्येणैव प्रधानतः।
परिणामं किलाप्नोति पितरो ! नात्र संशयः॥

हे पितृगण ! क्षत्रियकी प्रकृति प्रधानतासे धर्मलक्ष्य करके परिणामिनी होती है। इसमें संशय नहीं है। श्रीगीतोपनिषद्में क्षत्रिय जातिके स्वाभाविक धर्मके विषयमें निम्नलिखित वर्णन है, जिसके द्वारा भी इस विज्ञानकी पुष्टि होती है:—

शौर्य्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

शूरता, तेज, धृति, दाक्ष्य, युद्धमेंसे न भागना, दान करना और ईश्वरभाव (शासनभाव) ये क्षत्रियके स्वभावसिद्ध कर्म हैं॥ १०६॥

ब्राह्मणवर्णका धर्म कहा जाता है:—

ब्राह्मण मोक्ष-प्रधान है॥ ११०॥

आत्मज्ञान-मूलक ब्रह्मतेज मोक्षलक्ष्यके आश्रयसे ही प्राप्त हो सकता है, इसमें सन्देह ही क्या है। इसी कारण ब्राह्मणप्रकृति मोक्ष लक्ष्यको आश्रय करके प्रवाहित होती हुई स्वस्वरूप पारावारमें पहुँचती है। इसी कारण स्मृति शास्त्रमें कहा है:—

ब्राह्मणप्रकृतिर्मुख्यं मोक्षलक्ष्यं निरन्तरम्।
निजायत्तं प्रकुर्वाणा नूनमग्रे सरेदिह॥

ब्राह्मणकी प्रकृति मुख्यरूपसे मोक्ष लक्ष्यको अपने अधीन करके निरन्तर अग्रसर होती है और ब्राह्मणवर्णके स्वाभाविक धर्म निर्णय करते समय श्रीभगवान्ने निज मुखसे श्रीगीतोपनिषद्में कहा है:—

मोक्षप्रधानो ब्राह्मणः॥ ११०॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य ये ब्राह्मणके स्वभावजनित कर्म हैं। यही कारण है कि केवल जगत्में आत्मज्ञानविस्तारका पुरुषार्थ अवलम्बन करते हुए और जीवनयात्रामें तपको मुख्य मानकर परोपकारव्रतधारी ब्राह्मण-गण त्रिलोकपूज्य हैं॥ ११०॥

आर्य्यजातिका वर्णधर्म वर्णन करके नारीधर्म्मका विज्ञान वर्णन कर रहे हैं:—

नारीधर्म पारतन्त्र्यप्रधान है॥१११॥

वर्णाश्रमधर्ममें पुरुषधर्मके विचारसे वर्णधर्म सर्वप्रधान है। इस कारण पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार वर्णाश्रमका विज्ञान पृथक् पृथक् रूपसे कहकर अब नारीधर्मका विज्ञान कह रहे हैं। वर्णधर्म-की शुद्धिके बिना आश्रमधर्मकी रक्षा हो ही नहीं सकती और नारी-जातिकी शुद्धिके बिना वर्णधर्मकी शुद्धि सर्वथा असम्भव है। पुरुषगण कितना ही पवित्र रहे, यदि थोड़े ही क्षणके लिये एक नारी अपवित्र हो जाय तो, वर्णाश्रमधर्म तो भ्रष्ट हो ही जायगा; वह कुल और जाति भी नष्ट भ्रष्ट हो जायगी और नित्य पितरोंकी स्वाभा-विक असीमकृपा उस वंशसे उठ जायगी, क्योंकि, वर्णसंकर प्रजा-पर नित्य पितरोंकी कृपा नहीं रहती है। नारीजातिकी पवित्रता-पर ही वर्णाश्रमधर्मकी स्थिति निर्भर है। इस कारण नारीजाति-की पवित्रताके निमित्त उसका धर्म परतन्त्रतामूलक रक्खा गया है। बाल्यावस्थामें तो बालिकायें पिता माताके अधीन रहती ही हैं। विवाह करनेमें आर्य्यबालिकायें सर्वथा पिता-माताके अधीन रक्खी गयी हैं, क्योंकि, कन्याका विवाहकार्य्य एक दानकार्य्य माना गया है। दानका योग्य पात्र ढूंढ़ना और दान करना यह पिताका कर्तव्य है। अतः विवाहकार्य्यमें भी नारीकी पराधीनता शास्त्रसिद्ध है। सती नारी मन, वचन और शरीर द्वारा सर्वदा पतिके अधीन रहती

नारीधर्मः पारतन्त्र्यप्रधानः॥ १११॥

ही है और यदि दुर्भाग्यसे विधवा हो जाय, तो समाजके सम्बन्धसे उसकी पराधीनता नष्ट नहीं होती है। नारीधर्म सब प्रकारसे परतन्त्रतामूलक है इसमें सन्देह नहीं है। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है:—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्त्तव्यं किञ्चित्कार्य्यं गृहेष्वपि॥

अर्थात् बालिका युवती अथवा वृद्धा किसी अवस्थामें भी स्त्रियोंको स्वतन्त्र नहीं करना चाहिये॥ १११॥

उसका हेतु कहा जाता है:—

प्रकृतिजन्य होनेसे॥ ११२॥

सृष्टिप्रकरणका विज्ञान अनुसन्धान करनेसे यही परिज्ञात होगा कि, आदि पुरुष परमात्मा और ब्रह्मशक्तिरूपिणी मूलप्रकृति दोनोंके सम्बन्धसे ही सृष्टिप्रवाह प्रवाहित होता है। उन्हीं दो मौलिक कारणके अनुसार सृष्टिमें भी दो धारायें दिखायी देती हैं। एक स्त्रीधारा और दूसरी पुरुषधारा। इसका विज्ञान पहले कहा गया है। इसी वैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुसार आदिकारणकी सत्ता कार्य्यमें रहना स्वतःसिद्ध है। सांख्यदर्शनने यह भली प्रकारसे सिद्ध किया है कि, मूलप्रकृति कैसे पराधीना है। पुरुषके अतिरिक्त उसकी स्वतन्त्र सत्ता रह ही नहीं सकती है। पुरुषके लिये ही वह परिणामिनी होती है इत्यादि। अतः जो स्वभाव मूलप्रकृतिमें पाये जाते हैं, वे ही पूर्णावयव नारीजातिमें होना विज्ञानसिद्ध है। उद्भिज्ज आदि योनियोंमें कदापि स्त्रीजातिका वह स्वभाव पूर्णरीत्या नहीं पाया जायगा, परन्तु पूर्णावयव मनुष्यत्वमें पूर्णावयव नारीका स्वस्वभाव पुरुष-परतन्त्रता अवश्य ही स्वाभाविकधर्म होगा॥ ११२॥

विवाहप्रसंगसे विज्ञानकी पुष्टि कर रहे हैं:—

इस कारण विवाह दानप्रधान है॥११३॥

प्रकृतिजन्यत्वात्॥ ११२॥
तस्माद्दानप्रधानो विवाहः॥ ११३॥

यद्यपि विवाहके बहुभेद मनुष्यजातिमें प्रचलित हैं और शास्त्रों में भी पाये जाते हैं, तथापि कन्यादानप्रधान विवाह ही धर्मानुकूल है। नारीजाति परतन्त्रताधर्मसे युक्त होनेके कारण स्वयम्वरादि विवाह उत्तम धर्म नहीं है। कन्यावस्थामें कन्यादानकी पद्धतिके अनुसार जो विवाह होता है, वही उत्तम धर्म है। क्योंकि कन्यावस्थामें कन्या पिताकी ही है। अतः पारतन्त्र्यधर्म होनेसे उत्तम वर देखकर कन्याका दान कर देना सर्वोत्तम विवाह समझा जाता है ॥ ११३ ॥

प्रसङ्गसे अधर्मका मूल विधवाविवाहका खण्डन किया जाता है:—

अतः विधवाविवाह आकाशकुसुमवत् है ॥११४॥

प्रथम तो आर्य्यजातिकी विवाहप्रथा कन्यादानमूलक होनेसे दान कीहुई वस्तुको पुनः दान करनेका अधिकार पिता माताको रह ही नहीं सकता। अतः जब दान कीहुई वस्तुके पुनर्दान करनेका अधिकार नहीं रहता, तो विधवाविवाह आकाशकुसुमवत् असम्भव है। दानधर्मका लक्षण पहले भलीभांति विवृत हुआ है। अतः विधवाविवाहमें वह घट ही नहीं सकता। यदि मृतपति आकर दान करें तो हो सकता है। अतः ऐसा होना आकाशकुसुमवत् ही है। दूसरी ओर नारीजाति प्रकृतिधर्मसे युक्त होनेके कारण पराधीनधर्मिणी है। इस कारणसे भी विधवा यदि पत्यन्तर ग्रहण करे, तो वह नारीजातिके स्वाभाविक धर्मके अनुकूल नहीं होगा और तीसरी बात यह है कि नारीजातिका धर्म सतीत्व प्रधान है। अतः पुरुषान्तर ग्रहणका मानसिक कल्पना भी उसके आदर्श सतीत्व धर्मका नाशक होगा। इन सब कारणोंसे विधवाविवाहकी कल्पना आकाशकुसुमवत् है। जिस प्रकार संन्यासीका विवाह पापका घर है, जिस प्रकार संन्यासीके द्वारा की हुई सृष्टि अन्त्यज श्रेणीभुक्त हो जाती है, उसी नियमके अनुसार द्विज जातिमें विधवाविवाह पापका घर और सर्वनाशकारी समझा जाता है। वस्तुतः आश्रमधर्ममें जिस प्रकार संन्यासी पूज्य हैं, पुरुषोंमें जिस प्रकार

विधवोद्वाहो व्योमकुसुमवदतः ॥ ११४ ॥

संन्यासीका सम्मान है, निवृत्तिधर्म्मिणी होनेसे नारीजातिमें विधवा-को वही श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। अतः ऐसे पूज्य स्थानसे विधवाको भ्रष्ट करना महापाप है। निवृत्तिमार्गमें प्रवृत्ति मार्गकी असम्भावना होनेसे विधवाविवाहकी कल्पना आकाशकुसुमवत् है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ११४ ॥

प्रसङ्गसे नारीका विवाहकाल निर्णय किया जाता है:—

कन्यावस्थाका विवाह प्रशंसनीय है ॥ ११५ ॥

नारीजातिका धर्म परतन्त्रतामूलक होनेसे विवाहसंस्कार ही नारीजातिके लिये प्रधान संस्कार है। इस कारण पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार इस प्रसङ्गमें नारीजातिका विवाहकाल निर्णय कर रहे हैं। रजोधर्म होनेसे पूर्व नारी कन्या कहलाती है। अतः उस कन्या-वस्थामें ही नारीजातिका विवाह कर देना धर्मानुकूल है। इस कारण स्मृतिशास्त्रमें कहा है:—

त्रिंशद्वर्षो वहेत् कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ।
ऊर्द्ध्वं दशाब्दाद्या कन्या प्राग्रजोदर्शनात्तु सा ।
गान्धारी स्यात्समुद्वाह्या चिरं जीवितुमिच्छता ॥
अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा तु रोहिणी ।
दशवर्षा भवेत् कन्या अत ऊर्द्ध्वं रजस्वला ॥
तस्माद्विवाहयेत् कन्यां यावन्नर्त्तुमती भवेत् ।
विवाहोऽष्टमवर्षायाः कन्यायास्तु प्रशस्यते ॥

तीस वर्षका वर बारह वर्षवाली सुशीला कन्यासे विवाह करे, अथवा चौबीस वर्षका वर आठ वर्षवाली कन्यासे विवाह करे और धर्महानिकी आशङ्का यदि हो तो शीघ्र भी कर सकते हैं। दश वर्षसे ऊपर और रजोदर्शनके पहले तक कन्या गान्धारी कह-लाती है। बहुत कालतक जीवनधारण करनेकी इच्छावाले पुरुषको ऐसी कन्यासे विवाह करना उचित है। आठ वर्षवाली पुत्री गौरी होती है, नव वर्षवाली पुत्री रोहिणी होती है, दश वर्षवाली पुत्री कन्या होती है, इसके बाद रजस्वला होती है। इसलिये रजस्वला

कन्यावस्थायां प्राशस्त्यमुद्वाहस्य ॥ ११५ ॥

होनेसे पहले ही कन्याका विवाह कर देना उचित है। आठ वर्ष-वाली कन्याका विवाह अति उत्तम है।

इन स्मृतियोंके अनुसार नारीका विवाहकाल आठ वर्षसे बारह वर्षतक है। इसके अनन्तर कन्या रजस्वला हो जाती है। इस कारण इस अवस्थामें विवाह न होनेसे पाप होता है।

इन शास्त्रीय वचनोंके अनुसार यह सिद्ध होता है कि, कन्याका विवाहकाल आठ वर्षसे लेकर बारह वर्षतक प्रशस्त है। आठ वर्षसे पूर्व कन्याका विवाह अनुचित है, क्योंकि आठ वर्षसे पूर्व अति-बालिका होनेसे संस्कारकी सिद्धिमें बाधा होगी और द्वादश वर्षसे अधिकमें विवाह नहीं होना चाहिये, क्योंकि बारहवर्षके बाद रजो-धर्म हो जाना बहुत कुछ सम्भव है। कन्याकाल व्यतीत हो जानेसे अर्थात् रजस्वला हो जानेसे उसमें पुरुषसम्बन्धकी इच्छा होकर आदर्श सतीत्वधर्मका नाश हो जाना अवश्य सम्भावी है। इस कारण रजस्वला होनेसे पूर्व अर्थात् कन्यावस्थामें विवाह हो जानेसे नारीके पारतन्त्र्यधर्मकी रक्षा होगी और सतीत्वधर्मका पूर्ण अव-सर मिल सकेगा। यदि यह प्रश्न जिज्ञासुको हो कि, रजस्वला होनेके भयसे बारहवर्षके पूर्व्व और नव, दश वर्षके पश्चात् तो कन्याका विवाह कर देना युक्तियुक्त है, किन्तु न्यूनसे न्यून आठ वर्ष कन्याका विवाहकाल क्यों रक्खा गया ? तथा आठ वर्षकी प्रशंसा अधिक क्यों की गई ? इस प्रकारकी शङ्काओंका समाधान यह है कि, जब कन्यामें स्त्रीभावका संकोच, लज्जा आदि लक्षण प्रकाशित हो, तभी उसके अन्तःकरणको आदर्श सतीत्वधर्मके उदय करनेके लिये पतिदुर्गके द्वारा सुरक्षित करना उचित है। अतः प्रायः ऐसा देखनेमें आता है कि, आठ वर्षसे ही ये सब लक्षण प्रकाशित होने लगते हैं। दूसरी ओर आध्यात्मिक दृष्टिमें कुमारीकी पूर्णता आठ वर्षमें होती है। इसी कारण आठ वर्षकी कुमारी-पूजा शास्त्रोंमें प्रशस्त है। कदाचित् जिज्ञासुओंमें इस प्रकारकी शङ्का हो कि, इतनी अवस्थामें कन्याका विवाह पतिसङ्गके अयोग्य क्यों न समझा जाय ? इस श्रेणीकी शंकाका समाधान यह है कि, आर्य्यजातिका विवाह कामतृप्तिके लिये नहीं है, धर्मसंग्रहके लिये है। अतः प्रति-सङ्गका समय आत्मरूपसे उनको निर्णय करने

योग्य है। इस विषयको स्मृति, आयुर्वेद तथा देश, काल, पात्रके विचारकी सहायतासे निर्णय करने योग्य है॥ ११५॥

प्रसङ्गसे नारीका प्राधान्य कहा जाता है:—

रेशमकीटके तुल्य सृष्टिमें स्त्रीका प्राधान्य है॥ ११६॥

रेशमके कीटमें जैसे पुरुषरेशमकीट केवल सृष्टि करके अलग हो उड़कर अवस्थान्तरको प्राप्त हो जाता है और स्त्रीकीट ही सब कुछ करती है, उसी प्रकार सृष्टिकार्य्यमें स्त्रीजातिका प्राधान्य है। उदाहरणस्थलपर कहा जाता है कि, गर्भाधानके अनन्तर ही यदि पुरुषकी अचानक मृत्यु हो जाय तौ भी गर्भस्थ शिशुकी रक्षा अवश्य होगी, परन्तु शिशुकी जननीका शरीर गर्भाधानके अनन्तर दश महीनेके पहिले यदि पात हो, तो सृष्टि नष्ट हो जायगी। अतः जननीको दश महीने तो रहना ही चाहिये। इस कारण सृष्टि-कार्य्यमें नारीका प्राधान्य सर्वतन्त्रसिद्धान्त है॥ ११६॥

प्रसङ्गसे नारीधर्मविज्ञानकी पुष्टि की जाती है:—

उसकी शुद्धिकी रक्षा क्षेत्रके तुल्य आवश्यकीय है॥११७॥

सृष्टिमें नारीजातिका प्राधान्य होनेके कारण नारीजातिसे ही सृष्टिका बड़ा भारी सम्बन्ध है। इस कारण प्रधान वस्तुकी शुद्धि जब होगी, तभी सृष्टिकी भी शुद्धि बनी रहेगी। अतः नारीके लिये जितने धर्म और कर्त्तव्य निर्णय किये गये हैं, उनमें केवल नारिजातिकी शुद्धिरक्षाका प्राधान्य रक्खा गया है। जिस प्रकार खेतको निष्कंटक करके जोतकर कंकर, पत्थर आदिसे रहित करके जितना शुद्ध किया जाता है, उतना ही उसमें खेती अच्छी होती है; ठीक उसी प्रकार नारीजातिको जितना सदाचार, पवित्रता, पुरुषके द्वारा सुरक्षा और सतीत्व आदि धर्मके द्वारा परिशुद्ध रक्खा जायगा और उसमें नारी धर्मके उपयोगी स्वाभाविक धर्मभावोंकी वृद्धि की जायगी, उतनी ही मनुष्यसृष्टिका मंगल होगा। इसी वैज्ञानिक भित्तिपर स्थित रहकर धर्म्माचार्य्योंने नारीधर्मसमूहोंका निर्णय किया है॥११७॥

सर्गे नार्य्याः प्राधान्यं कौशेयकीटवत्॥ ११६॥
तच्छुद्धिरक्षणं क्षेत्रवत्॥११७॥

प्रसङ्गसे एक मौलिक सिद्धांत कहा जाता है:—

उनमें कामकलाकी उत्तेजना विफल है ॥११८॥

शुद्ध खेतमें उत्तम खेती होनेके लिये केवल बीज बोनेकी ही आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार गर्भाधान संस्कारके समय केवल पवित्ररीतिसे वीर्य्यदानकी आवश्यकता है और किसी बातकी नहीं; इस कारण स्त्रीको चञ्चला बना कर उसमें कामकलाकी उत्तेजना करा देना अनावश्यक और विफल है। विषयानन्दके लोभसे पुरुष नारीको प्रमादवश चञ्चल किया करता है। वस्तुतः स्त्रीजाति लज्जा, धैर्य्य आदि गुणावलीके कारण स्वभावसे ही पुरुषके निकट भूमिके समान धीर रहती है। केवल विषयासक्त पुरुष विषयानन्दके लोभसे अधीर होकर कामकलाका उद्दीपन किया करता है और इस प्रकार स्वभावसे धीर नारीको कामकला तथा चंचलतासे पूर्ण कर देता है यह क्रिया अस्वाभाविक है, स्वाभाविक नहीं है। अतः चाहे कुमारी अवस्थामें हो, चाहे सुहासिनी अवस्थामें हो, नारीके साथ ऐसी कोई चेष्टा नहीं होनी चाहिये, जिससे उसमें चंचलता तथा कामकलाकी उत्तेजना हो। नारीमें धैर्य्यकी सुरक्षा ही वाञ्छनीय है ॥११८॥

विज्ञानकी दृढ़ताके लिये उसका फल कहा जाता है:—

वह पापके लिये होता है ॥११९॥

स्त्रीमें कामकलाकी उत्तेजना करना पापजनक है। स्त्रीजातिका उदाहरण खेतके समान होनेसे उसमें चञ्चलता लाकर कामकलाको उत्तेजित करनेका अभ्यास करा देना स्त्रीजातिके स्वभावके प्रतिकूल होनेके कारण और उसके तपोधर्ममें बाधक होनेसे अधर्मका हेतु है। सत्त्व-गुणवर्द्धक होकर जो अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करे वह पुण्य है, और तमोगुणवर्द्धक होकर जो नीचेकी ओर ले जावे, वह पाप है। अतः चंचलता, अधीरता, निर्लज्जतामूलक कामकलोत्तेजन नारीके लिये पापवर्द्धक है ॥११९॥

विफलं कामकलोत्तेजनम् ॥११८॥
पापाय तत् ॥११९॥

वैज्ञानिक कारण कहा जाता हैः—

नैसर्गिक न होनेसे ॥ १२० ॥

नारी जातिमें चंचलता उत्पन्नकारिणी, तपोधर्मनाशकारिणी, धैर्य्य और शीलविरोधिनी परमानन्दप्रदमुक्तिकी बाधकरूपा कामकलाकी उत्तेजना नारीके स्वभावसिद्ध धर्मके विरोधिनी है। नारीधर्म तपोमूलक होनेसे उसमें धैर्य्यके सम्पूर्ण संरक्षणके जितने कार्य्य होंगे, वे ही उसके धर्मवर्द्धक हो सकते हैं और उसके विरोधी विषय स्वाभाविक नहीं होंगे। काम और प्रेममें दिन और रातकासा अन्तर है। इस कारण प्रेमविरोधी कामवर्द्धक क्रियाओंका निषेध किया गया है। क्योंकि ऐसी पापजनकवृत्तियां नारीजातिके मौलिक स्वभावके विरुद्ध हैं ॥ १२० ॥

अब पुण्य किससे होता है सो कहा जाता हैः—

सृष्टिकी पवित्रताके हेतु होनेसे उसकी प्रसन्नता पुण्यजनक है ॥ १२१ ॥

पापजनक कार्य्यका निषेध करके अब इस सूत्रके द्वारा पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार नारीजातिके सम्बन्धसे पुण्यजनक कार्य्यका वर्णन कर रहे हैं। क्षेत्रके पवित्र होनेसे जैसे खेती अच्छी होती है, वैसे ही जिस मनुष्यजातिमें स्त्रियां प्रसन्नचित्त रहती हैं, उस मनुष्यजाति अथवा कुलोंका अभ्युदय होना स्वतःसिद्ध है। अभ्युदयका जो कारण है वह अवश्य ही पुण्यजनक है। सृष्टिकी पवित्रता नारीकी पवित्रतासे साक्षात् सम्बन्ध रखती है। जिससे नारीजातिकी प्रसन्नताकी वृद्धि होती है, वह कार्य्य सृष्टिके सम्बन्धसे पुण्यजनक है। नारीकी प्रसन्नतासे सृष्टिकी पवित्रता साधित होती है और जिससे सृष्टिकी पवित्रता साधित होती है, वह अवश्य ही पुण्यकार्य्य है। पुण्य धर्मका फलस्वरूप है, धर्मसे ही सृष्टिकी सुरक्षा होती है यह पहले ही सिद्ध हो चुका है। अतः धर्मवर्द्धक जो कार्य्य होगा वह अवश्य ही सृष्टिके पवित्रता-साधक भी होगा। क्योंकि सृष्टिकी पवित्रता ही सृष्टिके अभ्युदयका हेतु

नैसर्गिकत्वविरहात् ॥ १२० ॥
पुण्याय तत्प्रसन्नता सर्गशुद्धिहेतुत्वात् ॥ १२१ ॥

है। नारीजाति क्षेत्ररूपा होनेसे और नारीजाति सृष्टिका मूल होनेसे नारीकी प्रसन्नतासे सृष्टि भी उत्तम और पवित्र होगी, इसमें सन्देह ही क्या है? अब जिज्ञासुके हृदयमें ऐसी शंका हो सकती है कि, वैषयिक सम्बन्धसे नारीकी प्रसन्नता ही क्या इसका लक्ष्य है? इस प्रकारकी शङ्काओंका समाधान यह है कि, केवल वैषयिक प्रसन्नता वस्तुतः प्रसन्नता नहीं है। क्योंकि वैषयिक सुख देनेवाली प्रसन्नता क्षणिक सुखप्रद होनेपर भी वह दुःखप्रद ही है, वास्तवमें प्रसन्नता नहीं है। धर्मसे विमुख अर्थ और काम दुःखदायी और नरकप्रद होता है; इस कारण धर्मलक्ष्यसे युक्त जो अर्थ, काम हैं, उनके द्वारा अथवा धर्म और मोक्षलक्ष्यसे युक्त जो प्रसन्नता है वही प्रसन्नता-शब्द-वाच्य है। तात्पर्य यह है कि, ऐसे ही सदुपायोंके द्वारा नारीके प्रसन्नता-सम्पादन करनेसे सृष्टिका कल्याण होता है और पुण्यकी प्राप्ति होती है ॥ १२१ ॥

प्रसङ्गसे दायित्व सिद्ध किया जाता है:—

उत्तरदायित्वअधिक है ॥ १२२ ॥

सृष्टिकार्य्यमें पुरुष और स्त्री दोनोंका ही सम्बन्ध है, परन्तु उन दोनोंमें प्रधानता नारीकी है, यह पहले भली प्रकार सिद्ध हो चुका है और यह तो सर्वतन्त्रसिद्धान्त है कि, अधिकारके साथ दायित्व (जिम्मेवरी) भी हुआ करती है। किसी देशका जो राजा होता है, उस राज्यपदवीके साथ उस राजाका दायित्व भी अवश्य रहता है। अतः नारी जातिका जब सृष्टिक्रियामें प्राधान्य है, तो उस प्राधान्यके साथ ही साथ उसका प्रातिभाव्य अर्थात् दायित्व भी अवश्य रहना स्वतःसिद्ध है। उदाहरणकी रीतिपर समझ सकते हैं, कि सृष्टिमें पुरुषका कार्य्य कुछ पलोंका है, परन्तु स्त्रीका दायित्व महीनोंका है। जैसा पहले कह चुके हैं। पुरुषके व्यभिचारसे केवल उसीको पाप होता है, परन्तु स्त्रीके व्यभिचारसे कुल और जाति सब नष्ट भ्रष्ट हो जाती हैं और जातिका सम्बन्ध पितरोंसे छूट जाता है। इस प्रकारसे जितना ही देखा जाय स्त्रीका ही प्रातिभाव्य अधिक सिद्ध होता है ॥ १२२ ॥

मौलिकधर्मविज्ञानकी सिद्धी की जाती है:—

इस कारण तपकी रक्षा करनी चाहिये ॥१२३॥

स्त्रियोंके तपोधर्मकी पूर्ण रक्षासे ही शरीर, वचन, मन आदिकी विशुद्धता सुरक्षित होकर इन दायित्वोंका पालन हो सकता है। नारीधर्म जो तपोमूलक है, यह प्राकृतिक नियमके ही अनुसार पूज्यपाद धर्माचार्य्योंने निर्णय किया है। नारी एक मात्र तपोधर्मके पालनसे पूर्व्व कथित सब अधिकारोंको प्राप्त कर सकती है। नारी जातिके जितने आचार, वेद और शास्त्रोंमें निर्णीत हैं, वे सब तपोधर्मके भित्तिपर ही सुरक्षित किये गये हैं ॥ १२३ ॥

प्रसङ्गसे सतीके भेद कहे जाते हैं:—

सती चतुर्विधा होती है ॥ १२४ ॥

सृष्टिके स्वाभाविक चतुर्भेदके अनुसार जैसे उद्भिज्ज स्वेदजादिमें चार भेद हैं, वर्ण और आश्रमके चार चार भेद हैं, उसी प्रकार पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने सती स्त्रीको भी चार श्रेणीमें विभक्त किया है। साधारण सती, मध्यम सती, उत्तम सती और सर्वोत्तम सती ॥ १२४ ॥

सर्वोत्तम सतीका लक्षण कह रहे हैं:—

एकमात्र पतिको पुरुषसमझने वाली ॥१२५॥

सर्वोत्तम सती वह कहाती है, जो जगत्में अपने पतिको ही पुरुष समझे और अन्य सबको स्त्रीवत् समझे। उसकी योगिजन-दुर्लभ धारणा इतनी प्रबल होती है कि, वह अन्तःकरणसे सदा पति-में तन्मय रहनेसे अन्य किसी पुरुषमें पुरुषत्वका भान ही उत्पन्न नहीं हो सकता है। यह अवस्था देवदुर्लभ है, इसमें सन्देह नहीं ॥१२५॥

उत्तम सतीका लक्षण कहा जाता है:—

अन्य पुरुषोंको पित्रादिवत् समझने वाली ॥ १२६॥

तपो रक्ष्यमतः ॥ १२३ ॥
सती चतुर्विधा ॥ १२४ ॥
पतिमात्रपुरुषं मन्यमाना ॥ १२५ ॥
पुरुषान्तरं पित्रादिवज्जानती ॥ १२६ ॥

दूसरी श्रेणीकी सती वह कहाती है, जो अवस्थामें बड़े पुरुषोंको पिताके समान, समान अवस्थावालोंको भाईके समान और छोटे अवस्थावाले पुरुषोंको पुत्रवत् समझकर अपने पातिव्रत्य धर्मकी रक्षा करती है। सतीकी यह धारणा भी अतिप्रशंसनीय है। क्योंकि इस धारणामें प्रकृतिकी जय एक वार ही वनी रहती है। इससे पहली जो सर्वोत्तम अवस्था है, उसमें सती आत्माको जय करके पतिके साथ अद्वैतसिद्धिके अधिकारको प्राप्त कर लेती है, परन्तु इस द्वितीय अधिकारमें नारी अपनी प्रकृतिको जय कर लेती है। यह प्राकृतिक नियम है कि, स्त्रीको देखकर पुरुष अपनेको पुरुष समझकर नारीकी ओर आकृष्ट हो और नारी अपनेको नारी समझकर पुरुषको आकर्षण करनेकी चेष्टा करे, इस प्राकृतिक नियमको सम्पूर्ण रूपसे इस अवस्थाकी सती जयकर लेती है। सुतरां यह प्रकृतिजयकी अवस्था भी निःश्रेयसप्रद है ॥ १२६ ॥

मध्यम सतीका लक्षण कह रहे हैंः—

मनसे पवित्र रहने वाली ॥ १२७ ॥

तीसरी श्रेणीकी सती वह कहाती है, जो विचारके द्वारा उठते हुए, अपवित्र भावोंको दवा कर मनसे भी सती धर्मकी रक्षा यत्नके द्वारा करती रहे। इस तृतीय अवस्थामें नारीको अन्य पुरुष पुरुषवत् प्रतीत अवश्य होता है। उस समय आकर्षण विकर्षणकी स्वाभाविक चेष्टा भी वनी रहती है, परन्तु सतीका संयम इतना प्रवल होता है कि, अपने मनोनिग्रहके द्वारा वह अपवित्र कामसंकल्पको किसी कालमें भी अपने चित्तमें उठने नहीं देती है। यह अवस्था अतिशय अभ्युदयप्रद है इसमें सन्देह नहीं ॥ १२७ ॥

साधारण सतीका लक्षण कहा जाता हैः—

स्थूल शरीरसे पवित्र रहने वाली ॥ १२८ ॥

चौथी श्रेणीकी सती वह कहाती है जिसका मन कभी अपवित्र हो भी गया हो, तो भी स्थूल शरीरको वह पवित्र रख सकती हो, इस अवस्थामें सती अपने तपोधर्मके प्रभावसे सतीत्वकी रक्षाके

मनसा ॥ १२७ ॥
वपुषा स्थूलेन ॥ १२८ ॥

लिये सदा प्रयत्न करती हुई सतीत्व धर्मके सदाचारको शास्त्रानुसार पालन करती है ॥ १२८ ॥

प्रसङ्गसे स्वधर्मत्यागका कुफल कहा जाता हैः—

अनधिकारीमें ब्रह्मविद्यादानके समान पुरुषभावापन्ना नारियोंका त्रिविध पतन होता है ॥१२६॥

जिस प्रकार अनधिकारी पात्रको ब्रह्मज्ञान बतानेसे कदाचारी होकर उसकी आधिभौतिक अपवित्रता, नास्तिक होकर आधिदैविक अपवित्रता और यथार्थज्ञानका धारण करनेवाला न होनेसे आध्यात्मिक अवनति इस प्रकारसे उसकी त्रिविध अवनति होती है, उसी प्रकार पुरुषभावापन्ना नारी यदि अपने पारतन्त्र्य, सतीत्व, तप, शील और पवित्रता आदि स्वधर्मको त्याग करके निरङ्कुशता, स्वाधीनता, अपवित्रता, तपोराहित्य आदि दोषोंको ग्रहण करके निर्लज्ज तथा पुरुषभावापन्न हो जाय, तो उसकी आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक त्रिविध अवनति हुआ करेगी। इस कारण नारिजातिको कदापि पुरुषभावापन्न होना उचित नहीं है। पुरुषभावापन्न होनेसे सदाचारके लोपद्वारा शारीरिक अपवित्रता अवश्य होगी और ऐसा होनेसे उस प्रकारकी नारीकी आधिभौतिक अवनति अवश्य सम्भावी है। पुरुषभावापन्न होनेसे पतितन्मयतामूलक सतीत्व-संस्कार लुप्त होगा, उससे मानसिक दुर्बलता उत्पन्न होगी और मनकी दुर्बलता उत्पन्न होनेसे आधिदैविक अवनति अवश्य ही होगी। सृष्टिक्रमको त्याग करके नारीधारामें पुरुषधाराकी सङ्करता उत्पन्न कर देनेसे उस नारीमें आध्यात्मिक अवनति होनी निश्चित है। क्योंकि वह प्राकृतिक स्वभावके विरुद्ध होगा। इस प्रकारसे पुरुषभावापन्न नारीको त्रिविध अवनति होनी निश्चित है ॥१२६॥

कुफलके द्वारा भयप्रदर्शनके अनन्तर निश्चित उन्नतिके लिये आदर्श स्थापन किया जाता हैः—

दुर्गा, गौरी और महामाया इसका आदर्श है ॥१३०॥

पुरुषभावापन्नाया नार्य्यास्त्रिविधः पातोऽनधिकारिब्रह्मविद्यादानवत् ॥ १२६॥
तदादर्शो दुर्गा गौरी महामाया च ॥१३०॥

सृष्टिकी प्रसवित्री और पालयित्री नारीजातिके लिये तीन देवीभाव कैसे आदर्शरूप हैं, इसके लिये स्मृतिशास्त्रमें भी अनेक प्रमाण मिलते हैं, यथा श्रीमहामाया कहती हैः—

नारीधर्मार्थमप्येवं मत्स्वरूपत्रयं सुराः!।
ग्राह्यमादर्शरूपेण विश्वकल्याणसम्पदे॥
अहमेव महामाया प्रोच्ये भेदविवर्ज्जिता।
गौरी प्रेमप्रधानाऽहं दुर्गा शक्तिप्रधानिका॥
एतद्रूपत्रयं नूनं सती नारी विभर्त्त्यहो।
पुण्ये भारतवर्षेऽस्मिन्नार्य्यजातौ प्रजायते॥

हे देवगण! नारीधर्मके लिये भी मेरे तीन स्वरूप आदर्शरूपसे जगत्कल्याणार्थ अवलम्बनीय हैं। भेदरहितरूपसे मैं ही महामाया, प्रेमप्रधाना मैं ही गौरी और शक्तिप्रधाना मैं ही दुर्गा कही जाती हूँ। जो सती पवित्र भारतवर्ष और आर्य्यजातिमें उत्पन्न होती है, वह अवश्य इन तीनों रूपोंको धारण करती है। तात्पर्य्य यह है कि, प्रेमकी प्रथम अवस्था 'वे मेरे हैं' यह है। जब वे मेरे हैं तो उनकी विभूतियां भी मेरी हैं, इस भावका आदर्श दुर्गा देवी हैं। प्रेमकी दूसरी अवस्थाका भाव यह है कि 'मैं उनकी हूं' इसका उदाहरण गौरी हैं, क्योंकि गौरीने पतिनिन्दा सुनते ही शरीर त्याग कर दिया था। अन्तिम तथा सर्वोत्तम आदर्श महामाया हैं, जहां द्वैतभावकी स्थिति नहीं है। क्योंकि (मैं और वे एक हूं) यह प्रेमकी अन्तिम स्थिति है॥ १३०॥

वर्णधर्म और नारीधर्म इन दोनोंके स्वरूप निरूपणके अनन्तर अब आश्रमधर्मके स्वरूप निर्णयार्थ कहते हैंः—

प्रवृत्ति-निवृत्ति-भेदसे मार्ग द्विविध है॥ १३१॥

जीवके चलनेके दो मार्ग हैं, एक प्रवृत्ति मार्ग और दूसरा निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्गकी गति बाहरकी ओर है और निवृत्ति मार्गकी गति अन्तरकी ओर है। अथवा ऐसा भी समझ सकते हैं कि, प्रवृत्ति मार्ग वैषयिक सम्बन्धसे तृप्ति प्रदान करता हुआ जीवको आगे बढ़ाता है और निवृत्ति मार्ग विषयरागरहित करके आगे बढ़ाता

प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदाद् द्विविधं वर्त्म॥१३१॥

है। अथवा यों भी समझ सकते हैं कि, दोनों मार्ग ही आत्माकी ओर जाते हैं; प्रवृत्ति मार्ग परोक्षरूपसे और निवृत्ति मार्ग साक्षात् रूपसे आत्माकी ओर ले जाते हैं ॥१३१॥

प्रथम आश्रमका वर्णन किया जाता हैः—

ब्रह्मचर्य्यमें प्रवृत्तिकी शिक्षा होती है ॥ १३२ ॥

वर्णधर्म और नारीधर्म इन दोनोंके साथ प्रवृत्ति मार्गका साक्षात् सम्बन्ध है और निवृत्ति मार्गका परोक्ष सम्बन्ध है। उसी प्रकार आश्रमधर्मके साथ निवृत्तिका घनिष्ठ सम्बन्ध होनेपर भी प्रथम दो आश्रम प्रवृत्तिको साथ लेकर अग्रसर होते हैं। वस्तुतः निवृत्ति सिखानेके लिये प्रवृत्तिका उपयोग किया जाता है। चारों आश्रमोंमें-से ब्रह्मचर्य्याश्रम सबसे प्रथम है। इस आश्रममें शास्त्रोक्त प्रवृत्ति-मार्गमें कैसे चलना चाहिये, उसकी शिक्षा दी जाती है। श्रुति और स्मृतिशास्त्रमें ब्रह्मचर्य्याश्रमके जो जो आचार वर्णित हैं, उनके प्रत्येक शब्दमें इस विज्ञानको चरितार्थता होती है। निष्कर्ष यह है कि, ब्रह्मचर्य्याश्रमके यथाविधि पालन किये विना मनुष्य कदापि गृहस्थाश्रमके आदर्श-जीवन-पालनके उपयोगी नहीं बन सकता है॥ १३२ ॥

ब्रह्मचर्य्याश्रमके प्रधान कर्त्तव्य निर्णय किये जाते हैंः—

उसमें विद्या, ब्रह्मचर्य्य और गुरुसेवाकी प्रधानता रहती है ॥१३३॥

यद्यपि वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंमें ब्रह्मचर्य्याश्रमके विस्तृत धर्म वर्णित हैं, परन्तु पूर्व्व कथित विज्ञानकी पुष्टिके लिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार ब्रह्मचर्य्याश्रमके मौलिक सिद्धान्त और प्रधान कर्त्तव्य निश्चय करनेके अर्थ कहते हैं कि, विद्या, ब्रह्मचर्य्य और गुरुसेवा ये तीन प्रधान धर्म ब्रह्मचर्य्यके हैं। विद्याभ्यास द्वारा सदसद्विचार-शक्ति, जीवनका कर्त्तव्य निर्णय और धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके यथार्थ स्वरूपकी उपलब्धि होती है। ब्रह्मचर्य्य व्रतके द्वारा शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बलकी प्राप्ति होती है तथा इन्द्रियसंयमका

प्रवृत्त्यर्हत्वं ब्रह्मचर्य्ये ॥१३२॥
तत्र प्राधान्यं विद्याब्रह्मचर्य्यगुरुसेवानाम् ॥ १३३ ॥

अधिकार प्राप्त होता है। गुरुसेवाके द्वारा भगवत्कृपाकी प्राप्ति होकर आत्मोन्नतिका मार्ग परिष्कृत हो जाता है ॥ १३३ ॥

द्वितीय अर्थात् गृहस्थाश्रमका वर्णन किया जाता है:—

दूसरेमें उसकी चरितार्थता होती है ॥१३४॥

ब्रह्मचर्य्याश्रममें प्रवृत्ति मार्गमें चलनेके उपयोगी शिक्षा होनेके अनन्तर गृहस्थाश्रममें उसकी चरितार्थता करके आत्मोन्नति की जाती है। इसी कारण स्मृति शास्त्रमें कहा है:—

प्रवृत्तिं शास्त्रविहितां ब्रह्मचर्य्ये तु शिक्षते।
समाचरति गार्हस्थ्ये तां प्रवृत्तिं पुमान् भुवि ॥

पुरुष शास्त्रोक्त प्रवृत्तिको ब्रह्मचर्य्याश्रममें सीखते हैं और गृहस्थाश्रममें उसका आचरण करते हैं ॥ १३४ ॥

प्रसङ्गसे गृहस्थाश्रमकी महिमा बताई जाती है:—

सबके आश्रय होनेसे द्वितीय श्रेष्ठ है ॥ १३५ ॥

थोड़े ही विचारसे यह प्रतिपन्न होगा कि, गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंका आश्रयस्थल है। जिस प्रकार वर्णधर्मका आश्रयस्थल नारी है, क्योंकि बिना क्षेत्रकी पवित्रताके वर्णधर्मकी शुद्धि हो ही नहीं सकती है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रमके बिना अन्य तीन आश्रमोंका अस्तित्व ही नहीं रह सकता है। ब्रह्मचर्य्याश्रमका सब आचारपालन तो गृहस्थाश्रमके अधीन है। वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रमका योगक्षेम सब कुछ गृहस्थाश्रमके अधीन है। इस कारण गृहस्थाश्रमको ज्येष्ठाश्रम कहते हैं। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥
सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्विभर्त्ति हि ॥
यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥

तच्चारितार्थ्यं द्वितीये ॥१३४॥
ज्यैष्ठ्यं द्वितीयस्य सर्वाश्रयत्वात् ॥ १३५ ॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्य्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास वे चारों आश्रम गृहस्थाश्रमसे होते हैं। सब आश्रमोंमें गृहस्थ श्रेष्ठ हैं, वह अन्य तीनोंका पालक है। जिस प्रकार नदी और सब नद समुद्रमें संस्थिति पाते हैं, उसी प्रकार अन्य सब आश्रमी गृहस्थको आश्रय करते हैं। सब जीव जिस प्रकार वायुको आश्रय करके रहते हैं, वैसा ही अन्य सब आश्रम गृहस्थाश्रमको आश्रय करके रहते हैं। अन्य तीनों आश्रमियोंको गृहस्थ ही ज्ञान और अन्नादिके द्वारा धारण करता है, इस कारण गृहस्थाश्रम ज्येष्ठाश्रम है ॥ १३५ ॥

और भी कहते हैं:—

करवीर वृत्तके समान गृहस्थाश्रम सुलभ है ॥ १३६ ॥

जिस प्रकार कनेरका वृत्त पार्वत्यभूमि, मरुभूमि, जलीयभूमि आदि सब भूमियोंमें उत्पन्न होता है, उसी प्रकार गार्हस्थ्यके लक्षण आर्य्य, अनार्य्य आदि सबमें पाये जाते हैं। गृहस्थाश्रमकी यह दूसरी महिमा है कि, केवल वर्णाश्रमधर्मको माननेवाली आर्य्य-जातिमें ही इसका अस्तित्व नहीं दिखायी पड़ता है, किन्तु सब प्रकारकी मनुष्यजातिमें ही इसका अस्तित्व विद्यमान है ॥ १३६ ॥

अब तृतीय अर्थात् वानप्रस्थाश्रमका वर्णन किया जाता है:—

तृतीयमें निवृत्तिकी शिक्षा होती है ॥१३७॥

पूर्व्व दो आश्रमोंमें निवृत्तिपथके लिये द्वारोद्घाटन करनेके अनन्तर इस तृतीय आश्रममें निवृत्तिके अधिकारकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य प्रवेश करता है। इस आश्रममें निवृत्तिमार्गमें कैसे चलना चाहिये, उसके लिये यथा योग्य शिक्षा प्राप्त होती है। यदि पतिके साथ स्त्री भी इस आश्रममें साथ दे, तो दोनोंके लिये निवृत्ति-मूलक

तत् सुलभं करवीरवत् ॥ १३६ ॥
निवृत्तेरर्हत्वं तृतीये ॥ १३७ ॥

शिक्षाका ही प्राधान्य रहता है। निवृत्ति-प्राप्तिके लिये आवश्यकीय शिक्षा प्राप्त करके साधक आगेके आश्रममें निवृत्तिका पूर्ण अधिकारी होकर कृतकृत्य होता है। जिस प्रकार गृहस्थाश्रमकी भित्ति ब्रह्मचर्य्याश्रम है, उसी प्रकार संन्यासाश्रमकी भित्ति यह आश्रम है। स्मृति शास्त्रमें कहा है:—

एवं गृहस्थाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।
वने बसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥
संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्व्वञ्चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्य्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा॥

शास्त्रोक्त विधिके अनुसार गृहस्थाश्रममें निवास करनेके अनन्तर द्विजाति जितेन्द्रिय होकर वनमें निवास करे। जब गृहस्थ देखे कि शरीर शिथिल हो गये, बाल पक गये और पुत्र, पौत्र हो गये, तब वनका आश्रय करे। ग्रामका आहार तथा अन्य सब सम्पत्तिको त्याग करके स्त्रीको पुत्रके पास रखकर अथवा स्त्रीको साथ लेकर ही वनमें चला जाय॥१३७॥

अब चतुर्थ अर्थात् संन्यास आश्रमका वर्णन किया जाता है:—

उसकी सिद्धि चतुर्थ आश्रममें होती है॥१३८॥

निःश्रेयसका मूल निवृत्तिमार्गका पूर्ण अधिकार संन्यास आश्रमके द्वारा साधकको प्राप्त होता है। स्मृति शास्त्रमें भी कहा है:-

बानप्रस्थे निवृत्तेस्तु शिक्षा पुंसु प्रजायते।
निवृत्तिः पूर्णतां याति संन्यासाश्रममेत्य वै॥

वानप्रस्थाश्रममें निवृत्तिकी शिक्षा प्रारम्भ होती है और सन्न्यासाश्रममें निवृत्तिकी पूर्णता होती है। जिस प्रकार ब्रह्मचर्य्यव्रत, सब स्त्रियोंको मातृसमान समझना, विद्या-प्राप्तिको जीवनका प्रधान लक्ष्य और गुरुसेवाको सर्वफलप्रद समझकर पुरुषार्थ करनेसे ब्रह्मचर्य्याश्रममें गृहस्थाश्रमकी योग्यता प्राप्त होती है; उसी प्रकार

तत्सिद्धिस्तुरीये॥ १३८॥

वानप्रस्थाश्रमके द्वारा निवृत्तिमार्गकी उपयोगिनी सब शक्तियोंको प्राप्त करके इस तुरीय आश्रममें साधक पूर्णरूपसे निवृत्तिपथगामी बन जाता है और इस आश्रममें यथाक्रम कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंसके अधिकारोंको यथाकालमें प्राप्त करके जीवन्मुक्त पदवीपर पहुंचता हुआ सायुज्यको प्राप्त कर लेता है। यही सब संस्कारोंका अन्तिम संस्कार, सब साधनोंका अन्तिम साधन और सब अधिकारोंका अन्तिम अधिकार है ॥१३८॥

आश्रमधर्मको स्पष्ट करनेके लिये प्रथम आश्रमका मौलिक सिद्धान्त कहा जाता है:—

ब्रह्मचर्य्य नियम-प्रधान है ॥१३९॥

नियमका लक्षण पहले विस्तारितरूपसे विवृत हो चुका है, उसी नियमधर्मको सम्मुख रखकर ब्रह्मचर्य्याश्रमका आचार पूज्यपाद धर्माचार्योंने निश्चित किया है। जगत्‌की स्त्रियोंको माताके समान समझकर उनसे गुरुके निमित्त भिक्षा मांगना, इस प्रकारसे काम, तथा अहङ्काररूपी प्रबल शत्रुओंको जय करनेका प्रयत्न करके गुरुपूजाके बलसे अन्तःशुद्धि प्राप्त करना, ये सब नियमधर्मके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। नियमधर्मके अभ्यास द्वारा प्रथम आश्रममें ही द्विजको आध्यात्मिक राज्यमें अग्रसर कर देना प्रधान उद्देश्य है। इस प्रकारसे ब्रह्मचर्य्याश्रमके आचारोंपर जितना ध्यान दिया जायगा उतना ही उसको नियमधर्मकी भित्तिपर स्थित पाया जायगा ॥१३९॥

द्वितीय आश्रमका मौलिक सिद्धान्त कहा जाता है :—

गार्हस्थ्यधर्म संयमप्रधान है ॥ १४० ॥

नियमधर्मके संस्कारसे अन्तःकरणको संस्कृत करता हुआ द्विज गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता है। गृहस्थाश्रममें कामिनी-काञ्चनका प्रलोभन नियमधर्मके अभ्यासके कारण एकाएक उसको वशीभूत नहीं कर सकता, तो भी गृहस्थाश्रम प्रवृत्ति-मूलक ऐश्वर्योंसे पूर्ण होनेके कारण उसकी प्रवृत्तिमें फसकर प्रवृत्तिसंस्कारको अधिक संग्रह करना सम्भव है, परन्तु संयममूलक आचारोंके अभ्याससे

नियमप्रधानं ब्रह्मचर्य्यम् ॥१३९॥
संयमप्रधानं गार्हस्थ्यम् ॥ १४० ॥

गृहस्थाश्रमी इस युद्धमें जय लाभ करनेमें समर्थ होकर आध्यात्मिक उन्नतिका द्वार खुला रख सकता है। वहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रियोंकी उद्दामगतिको अपने अधीन रखनेको संयम कहते हैं। यहां योगसम्बन्धीय संयम न समझा जाय। अतः इस संयमके लक्षणके अन्तर्गत नियमके लक्षणका भी प्रवेश हो जाता है। गृहस्थाश्रमके विस्तृत आचारोंपर जितना ध्यान दिया जायगा, उतना ही वे सब संयमधर्मकी भित्तिपर स्थित हैं, यह सिद्ध होगा ॥१४०॥

तृतीय आश्रमका मौलिक सिद्धान्त कहा जाता हैः—

वानप्रस्थाश्रम तपःप्रधान है ॥१४१॥

तपोधर्मका लक्षण पहले विस्तारित रूपसे विवृत हो चुका है। वानप्रस्थाश्रममें अतिकठोर साधनसमूहका अभ्यास करना होता है। क्योंकि प्रवृत्तिको एक बार ही भूलकर निवृत्ति मार्गमें चलनेके लिये इस आश्रममें प्रस्तुत होना पड़ता है। शारीरिक तप, मानसिक तप और वाचनिक तप इन त्रिविध तपोंसे वानप्रस्थके सब आचार पूर्ण हैं। इस स्थलपर जिज्ञासुओंको यह शङ्का हो सकती है कि, नारी-धर्म भी तपोमूलक है और वानप्रस्थ भी तपोमूलक है, इसका रहस्य क्या है? ऐसी शंकाओंका समाधान यह है कि, यद्यपि दोनोंके धर्म तपोमूलक हैं, परन्तु दोनोंमें दिन और रातका सा अन्तर है। नारी-धर्म प्रवृत्ति-मूलक है और वानप्रस्थ-धर्म निवृत्ति-मूलक है। वानप्रस्थ-धर्ममें स्वाधीनता है, नारीधर्ममें पराधीनता है। नारीधर्ममें सृष्टिका सम्बन्ध है और वानप्रस्थाश्रममें लयका सम्बन्ध है। नारीधर्ममें स्त्रीका शरीर और मन पतिके अधीन तपके द्वारा रहता है और वानप्रस्थधर्ममें स्त्री अपने अधीन और अपने निकट रहनेपर भी उसका सर्वथा त्याग रहता है। इन सब सामान्य लक्षणोंके द्वारा दोनोंका पार्थक्य स्वतः ही सिद्ध होता है ॥१४१॥

अब चतुर्थ आश्रमका मौलिक सिद्धान्त कहा जाता हैः—

चतुर्थाश्रम त्यागप्रधान है ॥१४२॥

तपःप्रधानं वानप्रस्थम् ॥ १४१ ॥
त्यागप्रधानं चतुर्थम् ॥ १४२ ॥

सर्वस्व त्याग किये विना मुक्ति असम्भव है। जीवकी अपनी सम्पत्ति अहङ्कार और अहङ्कारप्रसूत इहलोक और परलोक सबका ही एक वार ही त्याग किये विना मुक्ति नहीं हो सकती है और इसीका अभ्यास यथाक्रम कुटीचक, वहूदक, हंस और परमहंस सन्न्यासाश्रमकी इन चार अवस्थाओंमें ब्राह्मणवंशोद्भव श्रेष्ठ अधिकारीको सिखाया जाता है। यह सब संस्कारोंमें अन्तिम संस्कार होनेसे सन्न्यासाश्रमके सब आचार तथा उसके सब नियम त्यागकी भित्तिपर स्थित हैं। इसी कारण स्मृति शास्त्रमें भी कहा है:—

संयमस्तु गृहस्थानां नियमो ब्रह्मचारिणाम्।
वानप्रस्थाश्रमस्थानां तपस्त्यागस्तु न्यासिनाम्॥

गार्हस्थ्य, ब्रह्मचर्य्य, वानप्रस्थ और संन्यास क्रमशः वे सब संयम, नियम, तप और त्यागकी भित्तिपर स्थित हैं॥१४२॥

इनसे क्या होता है, सो कहा जाता है:—

ये सब अभ्युदय और निःश्रेयसकर हैं॥ १४३॥

ये चारों आश्रम अभ्युदय और निःश्रेयसकर हैं। यद्यपि प्रथम दो आश्रम प्रवृत्तिपर और दूसरे दो आश्रम निवृत्तिपर हैं, परन्तु यथाक्रम नियम, संयम, तप और त्यागकी पूर्त्ति होनेके कारण ये सब ही अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंके देनेवाले हैं, क्योंकि नियम आदि चारों केवल अभ्युदय ही प्रदान नहीं करते हैं, किन्तु निःश्रेयस तक पहुंचा सकते हैं। ब्रह्मचारी एक बार ही सन्न्यासाश्रम ले सकता है। इसकी विधि भी पायी जाती है। गृहस्थाश्रमी जनकादि तो जीवन्मुक्त ही थे। महर्षिगण प्रायः सभी वानप्रस्थ आश्रमधारी होकर ही ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त हुए थे और सन्न्यास तो मुक्तिका स्वरूप ही है। इन चारों आश्रमोंकी असम्पूर्ण अवस्थामें अभ्युदय तो अवश्यसम्भावी ही है॥ १४३॥

अब उसके न होनेसे क्या दोष होता है, सो कहा जाता है:—

लक्ष्याभाव होनेसे अनाश्रमित्वसे अधर्म होता है ॥१४४॥

आश्रमोंका महत्त्व वर्णन करके अब पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार

एतान्यभ्युदयनिःश्रेयसकराणि॥१४३॥
अनाश्रमित्वादधर्मो लक्ष्याभावात्॥१४४॥

आश्रमसे भ्रष्ट व्यक्तिका क्या होता है सो कहते हैं। चारों आश्रम मनुष्यके जीवनके लक्ष्यको स्थिर करानेवाले हैं और उनकी यथाक्रम सुकौशलपूर्ण व्यवस्था कैसी है, सो पहले भलीभांति वर्णित हो चुकी है। अनाश्रमीके जीवनका लक्ष्य न रहनेसे उसका धर्म-मार्ग रुद्ध हो जाता है। जिस प्रकार लक्ष्यभ्रष्ट नौका पतवार तथा दिङ्निर्णायक-गतिके अभावसे जलमग्न हो जाती है, जिस प्रकार लक्ष्यभ्रष्ट पथिक विपथगामी होकर विपन्न हो जाता है, उसी प्रकार प्रवृत्ति तथा निवृत्तिकी क्रमागत गतिसे भ्रष्ट होकर अनाश्रमी अभ्युदय और निःश्रेयस देनेवाले धर्मसे च्युत और भ्रष्ट हो जाता है। न उस व्यक्तिमें धर्मानुकूल प्रवृत्ति ही होती है और न उसकी निवृत्तिका मार्ग खुला ही रहता है। इस कारण वह व्यक्ति धर्म-साधनकी शृंखलासे भ्रष्ट होकर अधर्मको प्राप्त होता है ॥ १४४ ॥

वर्णधर्मकी विशेष महिमा कही जाती हैः—

वर्णधर्म प्रवृत्तिरोधक है ॥१४५॥

काम,-अर्थ,-धर्म-मोक्षमूलक आचार और नियम समूहोंके साधनोंके द्वारा वर्णधर्म मनुष्यकी निरङ्कुशप्रवृत्तिको दिन प्रतिदिन रोककर आत्माकी ओर अग्रसर कराता है। शूद्रधर्म काम सम्बन्धीय प्रवृत्तिको सेवा द्वारा क्रमशः रोक देता है। वैश्यधर्म अर्थसंग्रहकी इच्छाको कृषि, गोरक्षा और वाणिज्यके द्वारा तृप्त करके प्रवृत्तिरोध करनेमें समर्थ होता है। इस विज्ञानको अन्य प्रकारसे भी समझ सक्ते हैं कि, जीव जब मनुष्य योनिमें पहुँचकर कई जन्मोंके अनन्तर कुछ शक्तिलाभ करता है, तब सबसे प्रथम उसमें कामसम्बन्धीय प्रवृति प्रबल होती है, क्योंकि वह अपने पिण्डका अधीश्वर होता है। उस समय तपस्यामूलक सेवाधर्म द्वारा वह अपनी उद्दामप्रवृत्तियोंको उच्छृंखलताप्राप्त होने नहीं देता है। दूसरे जन्ममें जब वह वैश्य होता है, तो स्वाभाविक क्रमोन्नतिके अनुसार उसमें अर्थसम्बन्धीय आकांक्षा प्रबल होती है। उस समय वैश्यवृत्ति द्वारा अर्थोपार्जन करके अर्थकी रक्षा और धर्मानुकूल व्यय करके वह अर्थसम्बन्धीय उद्दाम प्रवृत्तिके रोध करनेमें समर्थ होता है। उसके अनन्तर वह जीव

प्रवृत्तिरोधको वर्णधर्मः ॥ १४५ ॥

यथाक्रम पुण्ययोनि क्षत्रिय और ब्राह्मण योनियोंको प्राप्त करता है, और काम तथा अर्थको यथाक्रम धर्म और मोक्षके लिये विसर्जन करके अपनी उद्दाम प्रवृत्तिके एक बार ही रोध करनेमें समर्थ होता है। आदि सृष्टिसे क्रमागत परिशुद्धताको प्राप्त हुये चारों वर्णोंके रज और वीर्य्य इन चारों प्रकारोंके संस्कारोंसे युक्त होकर आर्य्य-जातिको इस प्रवृत्ति-रोधक साधनमें सहायता करते हैं। यही वर्णधर्मका असाधारण महत्त्व है॥ १४५॥

अब आश्रमधर्मकी विशेष महिमा कही जाती है:—

दूसरा निवृत्तिपोषक है॥ १४६॥

जिस प्रकार वर्णधर्म प्रवृत्तिरोधक है, उसी प्रकार आश्रमधर्म निवृत्तिपोषक है। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है यथाः—

वर्णधर्मं यतो विज्ञाः प्रवृत्तेरोधकं जगुः।
निवृत्तेः पोषकञ्चैव धर्म्ममाश्रमगोचरम्॥

अर्थात् वर्णधर्म प्रवृत्तिरोधक और आश्रमधर्म निवृत्तिपोषक है, ऐसा जानना चाहिये।

प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य्य धर्मानुकूल प्रवृत्तिके अधिकारोंको प्रदान करके गृहस्थाश्रममें वेद और शास्त्रानुकूल प्रवृत्तिको कराकर उस मनुष्यके लिये निवृत्तिमार्गका द्वार सम्यक्रूपसे उन्मुक्त कर देता है। तदनन्तर आगेके दो आश्रम तो मूर्त्तिमान् निवृत्ति ही हैं। अतः आश्रमधर्म निवृत्तिपोषक है, इसमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता है॥ १४६॥

अन्तिम फल कहा जाता है:—

निवृत्तिके द्वारा कैवल्य होता है॥ १४७॥

वर्णधर्मके द्वारा प्रवृत्तिको रोध करके आश्रमधर्मके द्वारा निवृत्तिकी वृद्धि करता हुआ अन्तमें जीवन्मुक्त दशाको प्राप्त करके जीव मुक्त हो जाता है। वर्णाश्रमधर्ममें अभ्युदयका नियमितरूपसे बेरोक टोक होना और साथ ही साथ प्रवृत्तिकी शुद्धि होते हुए और निवृत्तिकी वृद्धि होते हुए विना बाधाके मुक्तिपदमें पहुंच जाना ही

निवृत्तिपोषकस्त्वपरः॥ १४६॥
निवृत्त्या कैवल्यम्॥ १४७॥

लक्ष्य रक्खा गया है। वर्णाश्रमधर्मके आचारोंकी जो शृंखला बाँधी गई है, वह मनुष्यको नियमितरूपसे जन्मजन्मान्तरको सहायतासे बेरोक टोक मुक्तिपदमें पहुंचा देती है ॥ १४७ ॥

निवृत्तिकी उत्पत्तिमें मतभेद वर्णन किया जाता है:—

किसी किसीके मतानुसार भोगमें दोषदर्शन होनेसे निवृत्ति होती है ॥१४८॥

पूज्यपाद महर्षिने अपने मतके अनुसार वर्णाश्रमकी शृंखलाबद्ध-प्रणालीके द्वारा आर्य्यप्रजाको निवृत्ति मार्गमें उन्नत करके मुक्ति-भूमिमें पहुंचा देनेका विज्ञान वर्णन किया है। यह उनका स्वमत है कि, वर्णाश्रमधर्म माननेवाली प्रजा बिना विशेष पुरुषार्थ किये भी केवल वर्णाश्रम सदाचारके पालन करनेसे ही निवृत्ति-मार्गकी अधिकारिणी होकर मुक्ति-भूमिमें पहुंच जाती है। परन्तु इस स्वमतके अतिरिक्त जो अन्यान्य महर्षियोंके मत पाये जाते हैं, उनमेंसे एकका मत यह है कि, भोग्यपदार्थोंमें दोषदर्शनका अभ्यास करनेसे ही निवृत्ति मार्गके द्वारा मुक्तिकी प्राप्ति होती है। वस्तुतः विषयसमूह ही जीवको नीचेकी ओर फँसाए रखते हैं। विषयभोगकी इच्छा ही जीवके आवागमन चक्रका कारण है, तथा वही जीवको ईश्वरसे विमुख रखती है। जब वैराग्यके अभ्यासके द्वारा साधक विषयोंसे एक वार ही अरुचि प्राप्त कर लेता है, तो स्वतः ही उस भाग्यवान् साधकमें विषयवती प्रवृत्तिका नाश होकर निवृत्तिका उदय हो जाता है ॥ १४८ ॥

दूसरा मतभेद कहा जाता है:—

अन्यका मत है कि गुणदर्शनसे निवृत्ति प्राप्त होती है ॥१४९॥

किसी किसी महर्षिके मतमें ऐसा सिद्धान्त प्रकाशित है कि, प्रकृतिके सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंके यथावत सब समय दर्शन करते रहनेसे निवृत्तिकी प्राप्ति होती है और उससे मुक्ति होती है। प्रत्येक विषय जब साधकको मोहित करते हों, उस समय यदि वह विषयके स्वरूपसे मनको हटाकर केवल प्रकृतिके

भोगपौरोभाग्यात्तदुत्पत्तिरिति केचित् ॥ १४८ ॥
गुणदर्शनादित्यन्ये ॥ १४९ ॥

गुण-दर्शनकी ओर विचार रक्खे, तो विषय उसको कदापि नहीं फँसाएगा। और इस प्रकारसे वह साधक विषयसे निवृत्त होकर मुक्ति-भूमिमें पहुंच सकता है ॥ १४६ ॥

तीसरा मतभेद कहा जाता है:—

अन्यमतमें कर्मदर्शनसे निवृत्ति प्राप्त होती है ॥१५०॥

किसी किसी महर्षिकी सम्मति यह है कि, पापसे पुण्य कर्मका विचार, असत् कर्मसे सत् कर्ममें रुचि बढ़ाते हुए केवल सत् कर्म करते रहनेसे निवृत्ति मार्गकी प्राप्ति होकर मुक्ति होती है। जब कर्मवीर साधक केवल अपने कर्मपर दृष्टि रखता है, तो निरन्तर उसकी कर्मपरा दृष्टि रहनेसे उससे तामसिक पाप बनते ही नहीं है और क्रमशः वह पुण्य कर्म संचय करता हुआ निवृत्ति मार्गका अधिकारी बन कर मुक्त हो जाता है ॥ १५० ॥

चतुर्थ मतभेद कह रहे हैं:—

इतर मतमें धर्मप्रवृत्तिसे निवृत्तिकी प्राप्ति होती है ॥१५१॥

किसी किसी महर्षिका सिद्धान्त यह है कि, निरन्तर धर्मप्रवृत्ति बनाये रखनेसे मनुष्य क्रमशः निवृत्तिपथमें अग्रसर होता हुआ मुक्तिका अधिकारी हो जाता है। जब साधक अधर्म प्रवृत्तिका नाश करके धर्म प्रवृत्तिको बढ़ाता रहेगा, तो क्रमशः उसकी बुद्धि शुद्ध होकर उसमें विषय-वैराग्यरूपी निवृत्तिका उदय हो जायगा और इस प्रकारसे वह मुक्तिमार्गतक पहुँच सकता है ॥ १५१ ॥

अब स्वमतकी दृढ़ताके लिये कह रहे हैं:—

दोनों देशकालापेक्ष हैं ॥ १५२ ।

पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि, प्रवृत्ति अवस्थाकी क्रमोन्नति भी अभ्यास करते करते देशकालकी सहायतासे प्राप्त होती है। उसी प्रकार निवृत्तिकी सिद्धि भी देशकालकी अपेक्षा रखती है। प्रवृत्ति मार्गके धर्मसम्बन्धीय साधनसमूह भी देशकालकी सहायतासे

कर्म्मदर्शनादित्यपरे ॥१५०॥
धर्म्मप्रवृत्तेरितीतरे ॥१५१॥
उभे देशकालापेक्षे ॥१५२॥

साधकोंको आगे बढ़ाते हैं, इसी प्रकार निवृत्तिके साधनसमूहसे भी साधक देशकालकी सहायतासे आगे बढ़ता है। दूसरी ओर देशकाल-के भेदसे धर्माधर्म निर्णयके कर्त्तव्यमें प्रायः अत्यन्त कठिनता पड़ जाया करती है। इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि, प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही देश तथा कालकी अपेक्षा रखती हैं। अन्य ओर वर्णा-श्रमधर्मकी व्यवस्थासे अतिरिक्त और जो जो साधन निवृत्ति मार्गके द्वारा मुक्तिपदमें पहुँचनेके लिये पूर्व्वमें कहे गये हैं, उन सबोंकी अभ्युदय और निःश्रेयस-प्रदायिनी शक्ति यथा योग्य रहनेपर भी उनमें बाधा-की सम्भावना है, क्योंकि प्रवृत्ति और निवृत्तिसम्बन्धी क्रमोन्नति दोनों ही देशकालकी अपेक्षा रखती हैं और उन साधनोंमें अवान्तर बाधाओंकी निवृत्तिके लिये कोई उपाय नहीं है। वर्णाश्रम-धर्ममें जिस प्रकार अध्यात्मशुद्धि, अधिदैवशुद्धि और अधिभूतशुद्धि-की व्यवस्था रक्खी गई है, जिससे बाधायें अपने आप दूर होती रहती हैं और उन्नतिका मार्ग जन्मान्तरके सम्बन्धसे सरल रहता है, उस प्रकार अन्य पूर्व कथित उपायोंमें नहीं पाया जाता है। इस कारण वर्णाश्रमधर्मकी व्यवस्था अबाध्य क्रमोन्नतिके लिये अधिक निरापद है, ऐसा मानना पड़ेगा। दूसरी ओर प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म दोनों ही देशकाल अपेक्षित होनेसे उनके यथायोग्य अधिकारनिर्णयमें अवश्य ही कठिनता पड़ती है जैसा कि ऊपर कहा गया है॥ १५२॥

धर्माधर्मनिर्णयकी कठिनता दूर करनेके अभिप्रायसे प्रमाणका निर्देश किया जाता है:—

धर्माधर्मनिर्णयमें वेद प्रमाण है॥ १५३॥

पूर्व्व कथित रीतिपर देशकालका सम्बन्ध होनेसे तथा पात्र और अधिकारका विचार होनेसे क्या धर्म है और क्या अधर्म है, इसके विचार करनेमें बहुत ही कठिनता पड़नेकी सम्भावना है, इस कारण पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार धर्माधर्म निर्णय करके कर्त्तव्य निश्चयके समय वेद ही प्रमाण है, ऐसी आज्ञा करते हैं। देशके विचारसे धर्माधर्मनिर्णय, कालके विचारसे धर्माधर्मनिर्णय, पात्रके विचारसे धर्माधर्मनिर्णय, अधिकारके विचारसे धर्माध-

वेदाः प्रमाणं धर्माधर्मनिर्णये॥ १५३॥

र्मनिर्णय इत्यादि अवस्थाओंमें जब कर्त्तव्याकर्त्तव्य निश्चय करनेमें कठिनता हो, उस समय सब विषयमें वेदकी आज्ञा ही प्रमाण है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं ॥ १५३ ॥

उसका हेतु निर्देश कर रहे हैं:—

अपौरुषेय और ज्ञानमय होनेसे ॥ १५४ ॥

ब्रह्ममें सदा संलीन-मन मुनि अथवा नित्य ऋषियोंके अवताररूप ऋषिशब्दवाच्य महापुरुषगण ही केवल जटिलसमस्या होनेपर धर्माधर्म निर्णयमें समर्थ हो सकते हैं। अघटनघटनापटीयसी मायाके प्रभावसे उनके मतोंमें भी परस्पर विरोध भाववैचित्र्यके कारण हुआ करता है। इस लिये जटिल समस्याके कारण धर्माधर्मनिर्णय अत्यन्त कठिन है। परन्तु ऐसी सन्धिके समयमें जब वेद ही एक मात्र प्रामाण्य हैं, ऐसा कहा गया तो, दार्शनिक बुद्धि-सम्पन्न जिज्ञासुओंके चित्तमें ऐसी शङ्का हो सकती है कि, जटिलसमस्या उपस्थित होनेपर एक मात्र वेद ही धर्माधर्मनिर्णय करनेमें समर्थ है, उस वेदका स्वरूप क्या है ? वेदपर इस प्रकारसे निर्भर करनेका कारण क्या है ? इस प्रकारकी शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। वेदका महत्त्व सिद्ध करनेके लिये दार्शनिक युक्ति ही सबसे प्रधान है। क्योंकि वैदिक प्रमाण और शास्त्रीय प्रमाण वेदके ही अधीन हैं। इसमें सन्देह नहीं कि, ऋतम्भरा प्रज्ञाप्राप्त आत्मदर्शी महापुरुषगण वेदके अलौकिक स्वरूपका महत्त्व अनुभव कर सकते हैं, परन्तु साधारण मनुष्यगण नहीं कर सकते हैं। इस कारण दार्शनिकयुक्तिकी अवश्य ही आवश्यकता है। वेद अपौरुषेय और ज्ञानमय हैं; इस कारण वेद सर्वोपरि प्रामाण्य हैं। ब्रह्ममें ब्रह्मशक्तिकी अभिव्यक्ति और लय होना स्वतःसिद्ध है। जिस प्रकार किसी मनुष्यपिण्डमें उसके बोलने अथवा ज्ञात करानेकी शक्तिकी अभिव्यक्ति होकर वह शक्ति शब्दमयी अथवा स्वरमयी सृष्टिका आविर्भाव करती है और दूसरे क्षणमें उस वर्णात्मक अथवा ध्वन्यात्मक शब्दके लय होनेके साथ ही साथ वह शक्ति भी लय हो जाती है, उसी प्रकार शब्दमयी शक्तिके पुनः पुनः आविर्भाव और तिरोभाव

अपौरुषेयत्वाज्ज्ञानमयत्वाच्च ॥ १५४ ॥

के साथ साथ शब्दमयी सृष्टिका भी आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है। इसी उदाहरणके अनुसार समझना उचित है कि, ब्रह्मसे ब्रह्मशक्ति महामायाके आविर्भाव और लयभावके साथ ही साथ ब्रह्माण्डके उदय और अस्त हुआ करता है। ब्रह्मशक्ति नित्या है। केवल उसकी व्यक्तदशामें दृश्यप्रपंचकी स्थिति बनी रहती है और उसके अव्यक्तदशामें दृश्यप्रपञ्चका लय हो जाता हैं, सुतरां ब्रह्मशक्ति नित्या होनेपर भी जगत् अनित्य है। जिस प्रकार ब्रह्मशक्ति "अहंम्मेतिवत्" नित्या है, उसी प्रकार ज्ञान भी नित्य है। क्योंकि ब्रह्म सत्, चित और आनन्दमय होनेके कारण एकाधारमें अस्ति, भाति आदि भावके स्वस्वरूपमें नित्य विराजमान रहते हैं। इस हेतु चिन्मय भावका स्वभावरूपी ज्ञान नित्य है। जगत्की अभिव्यक्तिके साथ ही साथ अस्ति, भाति आदिकी भी अभिव्यक्ति होती है। इस हेतु ही कार्य्यब्रह्मरूपी जगत् भी अस्ति, भाति और आनन्द, इन त्रिविधभावोंसे पूर्ण प्रतीत होता है। सुतरां ब्रह्मके स्वस्वरूपके स्वरूप-ज्ञान प्रथम सृष्टिके विकाशके समय ज्ञानमय शब्दमें तटस्थ ज्ञानका बीजरूप धारण करके प्रकट होता है। वही तटस्थका वीजरूप शब्दब्रह्म प्रणव है। उसी प्रणवसे ही उस कल्पके उपयोगी यावत् ज्ञानराशि वेदकी ऋचामें सृष्टिके आदिकालमें महर्षियोंके अन्तःकरणमें आविर्भूत होती है। यही अलौकिक वेदाविर्भावका रहस्य है। मध्यमीमांसा और ब्रह्ममीमांसा दर्शन वेदके इस अलौकिक स्वरूपको नाना प्रकारसे सिद्ध करते हैं। अतः वेद अपौरुषेय और ज्ञानमय हैं, यह पूर्व कथित विज्ञानसे सिद्ध हुआ। वेदकी सत्ता ब्रह्ममें विद्यमान रहती है और सृष्टिके आदिमें "अहंममेतिवत्" ब्रह्मशक्तिके ब्रह्मसे आविर्भावके साथ ही साथ क्रिया और ज्ञानके रूपमें यथाक्रम प्रणव और वेद महर्षियोंके समाधियुक्त अन्तःकरणके द्वारा आविर्भूत होते हैं। वेद किसीके द्वारा प्रणीत नहीं हैं। उनके केवल आविर्भाव और तिरोभाव होते हैं, इस कारण वेद अपौरूषेय हैं और प्रतिकल्पमें प्रकट होने योग्य तटस्थज्ञानके वीज समूह उस कल्पमें प्रकट होने योग्य वेदमें निहित रहते हैं, इस कारण वेद ज्ञानमय हैं। अस्तु, वेद जब अपौरुषेय और ज्ञानमय हैं, तो अवश्य ही धर्माधर्म निर्णय करनेकी जटिल समस्या उपस्थित होनेपर एक मात्र वेद ही प्रामाण्य होंगे, इसमें सन्देह ही क्या है ॥१५४॥

स्वविज्ञानकी पुष्टिके लिये वेदकी महिमा कही जाती है:—

पूर्णज्ञानमय वेदकी भाषा आठ प्रकारके भावोंको प्रकाशित करनेवाली है ॥ १५५ ॥

जिस प्रकार ब्रह्मप्रकृति आठ भावोंमें विभक्त है, यथा श्रीभगवान्ने निज मुखसे कहा है कि:—

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥"

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार इस प्रकारसे भगवत् प्रकृति आठ भागोंमें विभक्त है। उसी प्रकार वेदरूपी ज्ञानात्मक सृष्टि भी आठ भागोंमें विभक्त है। यह विज्ञान सिद्ध है कि, कार्य्यब्रह्मका मूल कारण अष्टधा प्रकृति है, उसी उदाहरणके अनुसार ज्ञानात्मक शब्दब्रह्मकी सृष्टि भी अष्टधा हो सक्ती है, यह स्वतः सिद्ध है। यही वेदका असाधारणमहत्त्व और पूर्णत्व हैं। वेदका प्रत्येक मन्त्र अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत इन त्रिविध भावोंसे पूर्ण कर्म, उपासना और ज्ञान इन त्रिविध काण्डोंकी क्रियासे सम्वलित तथा अन्तर और बहिः-प्रकाशक दो ज्योतिसे पूर्ण हैं। तात्पर्य्य यह है कि, वेदके प्रत्येक मन्त्रमें समाधिबुद्धिद्वारा संयम करनेसे अध्यात्मभावकी पूर्णता, अधिदैवभावकी पूर्णता, अधिभूतभावकी पूर्णता, कर्मकाण्डकी उपयोगिता, उपासना काण्डकी उपयोगिता, ज्ञान काण्डकी उपयोगिता, और ज्ञानके सम्बन्धसे अन्तर्जगत्के प्रकाश करनेकी शक्ति तथा बहिर्जगत्के प्रकाश करनेकी शक्ति इस प्रकारसे अष्टाङ्गका स्वरूप पाया जाता है। यद्यपि कोई श्रुति ज्ञानप्रधान, कोई श्रुति उपासनाप्रधान और कोई श्रुति कर्मप्रधान बाहरीरूपमें प्रतीत होती है, परन्तु ये आठों शक्तियां न्यूनाधिकरूपसे सबमें विद्यमान हैं। उसी प्रकार जो श्रुति अन्तर्जगत्के लिये आत्मज्ञान प्रकाशक है, उसी श्रुतिमें समाधिबुद्धिके द्वारा संयम करनेसे स्थूल जगत्-प्रकाशक-उपयोगिता भी पायी जायगी। उसी श्रुतिसे कोई जगत्का कोई सत्यपदार्थका भी निर्णय हो सकेगा। प्रत्येक श्रुतिकी प्रकृति इस प्रकारसे अष्टधा है और यही वेदका

पूर्णज्ञानस्य वेदस्य भावाऽष्टभावप्रकाशिका ॥ १५५ ॥

अष्टभाव-प्रकाशक अलौकिकत्व, पूर्णत्व तथा महत्त्व हैं और इसी कारण वेद धर्माधर्मनिर्णयमें प्रामाण्य तथा सर्वमान्य हैं ॥ १५५ ॥

और भी कहा जाता है—

वेदके अनन्त होनेसे सब ऋषि सब वेदोंके वक्ता नहीं हो सकते हैं ॥ १५६ ॥

वेदकी अनन्तता, सर्वोपरिमहिमा और पूर्णत्वके विषयमें वैज्ञानिक चर्चा की जाती है कि, कारणब्रह्म श्रीभगवान्‌के शब्दमय शब्द-ब्रह्मरूपी वेद भी अनन्तज्ञानमय होनेसे अनन्त ही हैं। यही कारण है कि, सब ऋषि सब वेदके वक्ता कदापि नहीं हो सकते हैं। योगदर्शनमें श्रीभगवान् पतञ्जलिजीने कहा है कि—

"स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"

श्रीभगवान् कालकृतसीमासे रहित होनेसे सब पूर्ववालोंके गुरु हैं। तात्पर्य्य यह है कि, चाहे कोई ऋषि हों, कोई देवता हों अथवा कोई महापुरुष हों सभी देशकालसे परिच्छिन्न होनेके कारण अल्पज्ञानके अधिकारी होंगे। अनन्त ज्ञानराशिकी स्थिति केवल जगदात्मा श्रीभगवान्‌में ही हो सकती है। इस कारण कोई देवता, ऋषि अथवा कोई इस जगत्‌में ऋषि अथवा देव अवतार हो, सब ही देश, काल परिच्छिन्न होनेके कारण अपेक्षाकृत होनेसे अपूर्णज्ञानी होंगे और एकमात्र श्रीभगवान्‌में ही पूर्णज्ञान रह सकता है। इसी विज्ञानके अनुसार इस संसारके सब मन्त्र-द्रष्टा ऋषि सब वेद मन्त्रके वक्ता नहीं हो सकते हैं। जो ऋषि जिस जिस मन्त्रको अपने समाधि-युक्त अन्तःकरणमें प्राप्त करनेवाले होंगे, वह ऋषि उस मन्त्रके वक्ता अवश्य ही होंगे। एक ऋषि कई मन्त्रोंके वक्ता हो सकते हैं, उसी प्रकार एक ही मन्त्रके द्रष्टा विभिन्न समयमें कई ऋषि हो सकते हैं।

विशेषतः शब्दब्रह्मरूपी वेद अनन्त ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त और अनन्त कालस्थायी हैं; एक ब्रह्माण्डमें अथवा एक कल्पमें जितने वेद प्रकट होते हैं, वह वेदके उस अनन्त स्वरूपका एक अंश ही होता है।

न सर्ववेदवक्तृत्वं सर्वेषां [illegible]नन्त्यात् ॥ १५६ ॥

सुतरां वेदके अनन्त होनेसे और वेद अनन्त ज्ञान-भण्डारका आकर होनेसे सब ऋषि सब वेदके वक्ता नहीं हो सकते हैं ॥ १५६॥

अन्य प्रकारसे महिमा कही जाती है :—

शक्तिके अनन्त होनेसे देवता और विनियोग एक नहीं होते हैं ॥१५७॥

ज्ञान सम्बन्धसे जिस प्रकार वेद अनन्त हैं, शक्ति सम्बन्धसे भी वैसे ही अनन्त हैं। क्योंकि वेद भगवद्वाक्य होनेके कारण 'अहम्ममेतिवत्' ब्रह्मशक्तिरूप ही हैं।

दैवीमीमांसादर्शनमें भी कहा है:—

"अपौरुषेयत्वात् भगवद्वाक्यं वेदः"
"स्वतः पूर्णोऽभ्रान्तोनित्यश्च"

वेद अपौरुषेय होनेसे, उसका भगवद्वाक्य होना निश्चय है और इसी कारण वह स्वतः पूर्ण, भ्रान्ति रहित और नित्य है।

सुतरां वेद भगवत् शक्तिरूप होनेके कारण वह अनन्त शक्तिमय है और जब वेद अनन्त शक्तिका आधार है, तो उसके ऋचाओंकी अधिष्ठात्री देवताओं और उन ऋचाओंके विनियोगोंका अनेक होना निश्चित है। वेदके मन्त्रसमूह अलौकिक शक्तिसे पूर्ण हैं। इस कारण वेदकी सब ऋचायें मन्त्ररूप हैं क्योंकि अलौकिक दैवराज्यसे सम्बन्ध युक्त शब्दही मन्त्र कहाते हैं और प्रत्येक मन्त्रकी अधिष्ठात्री देवता पृथक् पृथक् होना और प्रत्येक मन्त्रका पृथक पृथक् विनियोग होना भी निश्चित है। प्रत्येक मन्त्रकी शक्तिको जो देव क्रियाशील करते हैं, वे उसके अधिदैव कहाते हैं और जिस दैवकार्य्यके लिये वह मन्त्र नियोजित होता है, वही उस मन्त्रका विनियोग कहाता है। अघटनघटनापटीयसी ब्रह्मशक्तिकी मनोबुद्धिसे अतीत अपारशक्ति होनेके कारण यह मानना ही पड़ेगा कि, श्रीभगवान्‌की शब्दशक्तिरूपी वेदकी ऋचाओंमें भी अनन्त शक्ति निहित हैं। जिस प्रकार अग्निके एक स्फुलिङ्गमें भी अग्निकी पूर्ण शक्ति विद्यमान है; उसी प्रकार वेदकी ऋचाओंमें भी

नैके देवताविनियोगाः शक्तेरानन्त्यात् ॥ १५७ ॥

पूर्णशक्ति विद्यमान है। जब वेदकी ऋचायें पूर्णशक्तिविशिष्ट हैं, तो अधिदैव सम्बन्ध होनेसे देवता अनेक होंगे, और क्रिया सम्बन्धसे विनियोग भी अनेक होंगे यह स्वतः सिद्ध है॥ १५७॥

दूसरा प्रामाण्य कह रहे हैं:—

स्मृतियोंका कर्तृत्व ऐसा है ॥१५८॥

धर्माधर्म निर्णयके विषयमें वेदका प्राधान्य निश्चय करके अब पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार यह कह रहे हैं कि, स्मृतियोंका कर्त्तृत्व भी ऐसा ही समझना चाहिये। देवलोकवासी नित्यऋषियोंके अवताररूपी महर्षिगण जो अपौरुषेय मन्त्रोंको अपने समाधि युक्त अन्तःकरणमें प्राप्त करते हैं, वे वेद कहाते हैं और समयान्तरमें वेद मन्त्रके भावोंको स्मरण करके अपनी भाषामें लोक कल्याणार्थ जो वचन कहते हैं, वे स्मृति कहाती हैं। इस कारण यह माननाही पड़ेगा कि, वेदके सदृश स्मृतियोंका भी कर्त्तृत्व है और वेदके अनन्तर स्मृतियोंका प्रामाण्य है॥१५८॥

अब श्रुति और स्मृतिमें विरोध होनेपर क्या करना चाहिये, सो कहा जाता है:—

श्रुति और स्मृतिका विरोध होनेपर श्रुति प्रबल समझना चाहिये ॥१५९॥

श्रुति भी अनेक हैं और स्मृति भी अनेक हैं। इस कारण यह सम्भव ही है, कि धर्माधर्म निर्णय करते समय दोनोंके विरुद्ध वचन भी मिले। यदि एक ही सिद्धान्तके निर्णयके विषयमें श्रुति वचनसे कुछ सिद्ध हो और स्मृति वचनसे और कुछ सिद्ध हो ऐसी समस्या उपस्थित होनेपर श्रुतिकी आज्ञाको ही प्रबल मानना उचित है। पूर्व्वकथित विज्ञानके अनुसार यह निश्चय हो चुका है कि, श्रुति साक्षात् भगवद्वाक्य है और स्मृतियां उस भगवद्वाक्यसे बनायी गई हैं। सुतरां ऐसी संधि उपस्थित होनेपर साक्षात् वाक्यको प्राधान्य देना सर्वथा युक्ति, न्याय और विज्ञानानुकूल है॥१५९॥

तथा सर्वस्मृतिकर्त्तृत्वम् ॥१५८॥
श्रुतिर्गरीयसी स्मृत्या विरोधे ॥१५९॥

अब अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रके विरोधमें श्रेष्ठ कौन है, सो कहा जाता है:—

अर्थशासनसे धर्मशासन प्रबल है ॥१६०॥

यदि धर्माधर्मनिर्णय या कर्त्तव्याकर्तव्यनिर्णय करते समय स्मृतिरूपी धर्मशास्त्र और धर्मशास्त्रसे अतिरिक्त ऋषिप्रणीत अन्यान्य अर्थशास्त्रका विरोध हो, तो उस समय स्मृतिरूपी धर्मशास्त्रकी आज्ञाको ही प्रधानता देनी उचित है। स्मृति आदि धर्मशास्त्र वेदके साक्षात् सम्बन्धसे और वेदार्थको स्मरण करके ही बनाए जाते हैं और अर्थशास्त्र लोककल्याणार्थ लौकिक दृष्टिसे ही बनाये जाते हैं। इस कारण यह स्वतः सिद्ध होगा कि, धर्माधर्म और कर्त्तव्याकर्त्तव्य निश्चय करनेकी सन्धिमें यदि धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रके वचनोंमें परस्पर विरोध प्रतीत हो, उस समय धर्मशास्त्रके अनुसार कर्त्तव्य निश्चय करना ही उचित होगा ॥१६०॥

आप्त प्रमाणकी दूसरी शैली वर्णन की जाती है:—

पूर्णज्ञान होनेसे एक भी सर्वज्ञ होते हैं ॥१६१॥

प्रमाण तीन प्रकारके होते हैं, यथा प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त। मेघ एकत्रित होकर वृष्टि कर रहे हैं, इसको चक्षुरिन्द्रियके द्वारा प्रत्यक्ष करके जाननेको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। पृथिवी यदि जलसे प्लावित रहे और आकाश मेघ रहित हो, तो अनुमान किया जाता है कि, पहले वृष्टि हुई थी। यही अनुमान-प्रमाण कहाता है और यदि आकाश भी स्वच्छ हो और वृष्टिके चिह्न भी पृथिवी पर न रहे और यदि आप्त व्यक्ति कहें कि उस देशमें अच्छी वृष्टि हुई थी, ऐसे वचनोंसे जो निश्चय होता है, उसको आप्त प्रमाण कहते हैं। ऐसे आप्त प्रमाण पुनः दो भागमें विभक्त है, एक वेद तथा शास्त्रोक्त आप्तप्रमाण और दूसरा आप्त व्यक्तिके वचनोंका प्रमाण। धर्माधर्म निर्णयमें प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमान प्रमाणकी प्रधानता हो ही नहीं सक्ती है; क्योंकि धर्मका स्वरूप विचित्र और धर्मका फल अदृश्य होता है। इसी कारण शास्त्रोंमें कहा है—

धर्मशासनमर्थशासनेन ॥१६०॥
सर्वविदेकोऽपि पूर्णज्ञानवत्वे ॥१६१॥

"धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्" सुतरां धर्माधर्मनिर्णयमें आप्त प्रमाण ही अवलम्बनीय है। पूर्व्व कथित आप्त प्रमाणोंका वर्णन पूर्वसूत्रोंमें करके अब पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार दूसरी श्रेणीके आप्त प्रमाणका वर्णन करनेके लिये इस सूत्रका आविर्भाव कर रहे हैं। कहा जाता है कि, एक महापुरुष जिनमें सप्तदार्शनिक ज्ञान-भूमिसे युक्त तत्त्वज्ञानकी पूर्णता है, वे धर्माधर्म निर्णायक सब विषयोंके ज्ञाता हो सक्ते हैं। समष्टिव्यष्टिरूपसे एक ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्गत पिण्ड एक ही है। अतः एक ब्रह्माण्डमें यदि कोई महापुरुष ज्ञानभूमियोंके सप्त अधिकारोंको यथाक्रम पूर्णरीत्या अधिकार करते हुए स्वस्वरूपमें पहुंच सकें, तो अपने ब्रह्माण्डकी ज्ञानराशिको भेदन करनेमें समर्थ होते हैं। तत्त्वज्ञानकी पूर्णतासे उनमेंसे मल, विक्षेप और आवरण समूल दूर हो जाते हैं; तब उनके अन्तःकरणके स्वच्छ ज्ञानको ढकनेवाला कोई भी नहीं रह जाता है, तदनन्तर उनकी बुद्धि पूर्णज्ञानसे युक्त हो जाती है और वे इच्छा और संयम करनेसे सब कुछ जान सकते हैं ॥१६१॥

आप्त पुरुषोंकी महिमा कही जाती हैः—

उसके जाननेवाले भी वैसाही प्रमाण हैं ॥१६२॥

जब एक कालमें प्रकाशित होने योग्य वेदके ज्ञाता ऋतम्भरा-प्राप्त महापुरुष हो सकते हैं, तब ऐसे तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महात्माके सिद्धान्त अवश्य ही वेदवत् मानने योग्य हैं। इसी कारण स्मृतिशास्त्र वेदके तुल्य ही माना जाता है, क्योंकि स्मृतिशास्त्र ऐसे ही महापुरुष महर्षियोंके वचन हैं। तत्त्वज्ञानसे पूर्ण हृदयवाले जीवन्मुक्त महापुरुषोंका अन्तःकरण चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाश तीनोंके साथ समानरूपसे मिल जाता है। इसका कारण पहले ही कह चुके हैं कि उनमेंका मल, विक्षेप और आवरण तीनों समूल नाश हो जाते हैं। ऐसी असाधारण लोकातीत स्थितिमें देवता, पितृ और ऋषियोंकी तो बात ही क्या है, ब्रह्माण्डके नायक ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपी त्रिमूर्तिके हृदय तकके साथ उनका हृदय मिल जानेसे उनके लिये सब प्रकारके ज्ञानभण्डारका द्वार उद्घाटित हो

तज्ज्ञोऽपि तद्वत् प्रमाणम् ॥ १६२ ॥

जाता है। अतः ऐसे महापुरुषोंका वचन प्रमाण ही मानने योग्य है, इसमें संदेह नहीं ॥१६२॥

प्रसङ्गसे वैदिकविज्ञानका सर्वोपरि महत्त्व कहा जाता है:—

वैदिक विज्ञान अलौकिक है ॥ १६३ ॥

वेदके अतिरिक्त आप्त प्रमाणका वर्णन जो पहले आचुका है, वे सब आप्त प्रमाण लौकिक शब्दसे सम्बन्ध युक्त हैं। स्मृति आदि शास्त्र तो सब लौकिक शब्दके द्वारा ही प्रकट होते हैं, क्योंकि महर्षिगण उनके अलौकिक भावोंको हृदयमें अनुभव करनेपर भी अपने अपने लौकिक शब्दोंके द्वाराही उनको संसारमें प्रकट किया करते हैं। दूसरी ओर आप्त महापुरुषगण सर्वदा अपने अन्तःकरणको अलौकिक भगवत् राज्यसे सम्बन्ध युक्त रखनेपर भी जब वे उपदेश देते हैं, तो अपने लौकिक शब्दोंकी सहायतासे ही दिया करते हैं, परन्तु वेदकी सर्वोपरि महिमा यह है कि, भगवद्वाक्यरूपी वेद अपौरुषेय होनेसे वे शब्दके ही रूपमें महर्षियोंके योगयुक्त अन्तःकरणमें प्रकट हुआ करते हैं; वस्तुतः ऋचाओंके शब्दोंमें मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके अपने शब्द विन्यासका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस कारण यह स्वतः सिद्ध हुआ कि, वेदके शब्द अलौकिक हैं और जब वेदके शब्द अलौकिक हैं तो, उनका अलौकिक भावमय होना भा स्वतःसिद्ध है और वैदिकविज्ञान किस प्रकार अष्टप्रकृतिसे पूर्ण है, सो पहले ही प्रकाशित हो चुका है। सुतरां वैदिकविज्ञानीकी अलौकिकताके विषयमें कोई सन्देह ही नहीं हो सकता है ॥ १६३ ॥

महत्त्वकी दृढ़ता कर रहे हैं:—

वेदानुशासन प्रभुसम्मित है प्रभुसम्मित है ॥१६४॥

धर्माधर्म निर्णयके विषयमें वेदाज्ञाका गुरुत्व और सर्वोपरि महत्त्व प्रतिपादनके लिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि, वेदाज्ञा प्रभुआज्ञाके सदृश माननीय है। स्मृति आदि वाक्योंमें दार्शनिक-युक्ति आदिका अवकाश रहता है, महज्जनोंकी आज्ञाके साथ ही

वैदिकविज्ञानमलौकिकम् ॥ १६३ ॥
तदनुशासनं प्रभुसम्मितम्प्रभुसम्मितम् ॥१६४॥

साथ शङ्का-समाधान भी चल सक्ता है, परंतु वेदाज्ञाके विषयमें कदापि युक्ति अथवा शङ्कासमाधान करनेका अवसर नहीं रहता है, ऐसा समझना उचित है। पूर्व्व सूत्रोक्त विज्ञान ही इस सिद्धान्तका प्रमाण है। अष्टशक्तिसे पूर्ण अभ्रान्त सिद्धान्तमय साक्षात् भगवद्वाक्यरूपी वेदके धर्माधर्म विषयकी निर्णायिका आज्ञा प्रभु सम्मित होगी इसमें संदेह ही नहीं हो सक्ता है। इस सूत्रमें 'प्रभु सम्मित' शब्दकी द्विरुक्ति दृढ़ता प्रतिपादक है ॥१६४॥

इति श्रीमहर्षि भरद्वाजकृत कर्म्मीमांसा दर्शनके भाष्यके

भाषानुवादका धर्म्मपाद नामक

प्रथमपाद समाप्त हुआ ।



श्रीभारतधर्म-महामण्डल।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके सभ्यगण और मुखपत्र।

हिन्दुजातिकी अद्वितीय विराट् धर्म्मसभा श्रीमहामण्डलके पांच श्रेणीके सभ्य होते हैं, यथाः—स्वाधीन नरपति और प्रधान प्रधान धर्म्माचार्य्यगण संरक्षक होते हैं। भारतवर्षके सब प्रान्तोंके बड़े बड़े जमींदार, सेठ, साहूकार आदि सामाजिक नेतागण उस उस प्रान्तके चुनावके द्वारा प्रतिनिधि सभ्य चुने जाते हैं। प्रत्येक प्रान्तके अध्यापक ब्राह्मणगणमेंसे उस उस प्रान्तीय मण्डलके द्वारा चुने जाकर धर्म-व्यवस्थापक सभ्य बनाये जाते हैं। भारतवर्षके सब प्रान्तोंसे पांच प्रकारके सहायक सभ्य लिये जाते हैं, विद्यासम्बन्धी कार्य करनेवाले सहायक सभ्य, धर्मकार्य्य करनेवाले सहायक सभ्य, महामण्डल, प्रान्तीयमण्डल और शाखासभाओंको धनदान करनेवाले सहायक सभ्य, विद्यादान करनेवाले विद्वान् ब्राह्मण सहायक सभ्य और धर्म-प्रचार करनेवाले साधु सन्यासी सहायक सभ्य। पांचवीं श्रेणीके सभ्य साधारण सभ्य होते हैं, जो हिन्दुमात्र हो सकते हैं। हिन्दुकुलकामिनि-गण केवल प्रथम तीन श्रेणीकी सहायक सभ्या और साधारण सभ्या हो सकती हैं। श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधान कार्यालय काशीसे एक हिन्दीभाषाका और दूसरा अङ्गरेजी भाषाका, इस प्रकार सम्मिलित दो मासिक पत्र प्रकाशित होते हैं। इन सब प्रकारके सभ्यों और श्रीमहामण्डलके प्रान्तीयमण्डल, शाखा-सभा और संयुक्त सभाओंको श्रीमहामण्डलका हिन्दी और अङ्गरेजी भाषाका मासिकपत्र दिया जाता है। नियमितरूपसे नियत वार्षिक चन्दा २॥) दो रुपये आठ आने देनेपर हिन्दू नर-नारी साधारण सभ्य हो सकते हैं। साधारण सभ्योंको बिना मूल्य मासिक पत्रिकाके अतिरिक्त उनके उत्तराधि-कारियोंको तथा कन्या पुत्र आत्मीय आदिको समाजहितकारीकोषके द्वारा विशेष लाभ मिलता है।

प्रधानाध्यक्ष,, श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधान कार्यालय।

जगतगंज बनारस।

श्रीमहामण्डलस्थ उपदेशक महाविद्यालय ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डल प्रधान कार्यालय काशीमें साधु और गृहस्थ धर्मवक्ता प्रस्तुत करनेके अर्थ श्रीमहामण्डल उपदेशक महाविद्यालय नामक विद्यालय स्थापित हुआ है। जो साधुगण दार्शनिक और धर्मसम्बन्धी ज्ञान लाभ करके अपने साधु जीवनको कृतकृत्य करना चाहें और जो विद्वान् गृहस्थ धार्मिक शिक्षालाभ करके धर्मप्रचार द्वारा देशकी सेवा करते हुए अपना जीवन निर्वाह करना चाहें वे निम्नलिखित पतेपर पत्र भेजें।

प्रधानाध्यक्ष, श्रीभारतधर्म महामण्डल प्रधान कार्यालय,
जगत्गंज, बनारस (छावनी)।

श्रीमहामण्डलका शास्त्रप्रकाशविभाग ।

यह विभाग बहुत विस्तृत है। अपूर्व संस्कृत, हिन्दी और अङ्गरेजीकी पुस्तकें काशी प्रधान कार्यालय (जगत्गंज) में मिलती हैं। दस लाख मूलधनसे भारतधर्म सिण्डिकेट नामक लिमिटेड कम्पनी खोलकर इस विभागका बृहत् आयोजन किया गया है।

सेक्रेटरी
श्रीभारतधर्म-महामण्डल,
जगत्गंज, बनारस।

धार्मिक और सामाजिक पुस्तकें ।

[भारतधर्म सिण्डिकेट द्वारा प्रकाशित]

नियम और सूचनायें ।

(१) पुस्तकें उधार, घरपर देखने या वापस लेनेका नियम नहीं है। १) रु० से कमकी वी० पी० नहीं भेजी जाती। इससे कमके लिये टिकट भेजना चाहिये, टिकट मिलनेपर पुस्तक तुरन्त बुकपोस्टसे भेज दी जाती है, राहमें गुम हो जानेकी जिम्मेवारी हमारी नहीं है।

(२) पता और पुस्तकोंका नाम बहुत साफ और पूरा लिखा जाना चाहिये।

(३) एक ही नामकी कई विषयोंकी या कई लेखोंकी लिखी पुस्तकें रहती हैं। इसलिये मांग लिखते समय पुस्तकका विषय या लेखकका नाम अवश्य लिखना चाहिये।

(४) पुस्तक रेलसे मंगानेवाले सज्जन अपने पासके रेलवे स्टेशनका नाम अवश्य लिखें।

(५) सार्वजनिक संस्थाओं, पुस्तकविक्रेताओं तथा थोक खरीददारोंको २५) से ऊपरके पुस्तकोंपर उचित कमीशन दिया जाता है। पुस्तकोंके नाम मालूम होनेपर कमीशन भी बतलाई जा सकती है। डाकव्यय बढ़ जानेसे अधिक पुस्तक रेल द्वारा मंगानेमें ही सुभीता है अधिक पुस्तकें मंगाते समय कमसे कम १०) पेशगी अवश्य भेजना चाहिये, बिना पेशगीके रेल द्वारा कोई पार्सल नहीं भेजा जाता।

(६) किसी वी० पी० में भूल जान पड़े, तो लौटाना नहीं चाहिये। लिखनेपर भूल सुधार दी जाती है।

(७) पुस्तकोंका मूल्य प्रकाशककी आज्ञाके अनुसार घट बढ़ भी जाया करता है

निवेदन-पत्र।

समस्त सनातनधर्मावलम्बी सज्जनोंसे सविनय निवेदन है कि, हम लोगोंने बड़े उत्साहके साथ बड़े बड़े धुरन्धर विद्वानोंकी बनाई हुई धार्मिक पुस्तकोंके प्रकाशनका कार्य आरम्भ किया है, इस सत्कार्यका महत्त्व बतलानेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि धार्मिक साहित्यके अभावमें धर्मका यथेष्ट प्रचार होना असम्भव है, इस अभावको दूर करनेके लिये ही दो साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किये जाने लगे हैं "महाशक्ति" अङ्गरेजोमें तथा "भारतधर्म" हिन्दी भाषामें।

सर्वसाधारणकी सहानुभूति प्राप्त करनेके लिये हमने अपने प्रकाशनविभागको बिलकुल समयानुकूल बना दिया है और इस बातकी निरन्तर चेष्टा की जारही है कि, सब प्रकारकी धार्मिक पुस्तकोंका अच्छा संग्रह रहे।

आशा है आपको जिन पुस्तकोंकी आवश्यकता होगी लिखकर अनुग्रहीत करेंगे।

स्थिर ग्राहकोंके नियम।

(१) इनमेंसे जो कमसे कम ४) मूल्यकी पुस्तकें पूरे मूल्यमें खरीदेंगे अथवा स्थिर ग्राहक होनेका चन्दा १) भेज देंगे, उन्हें शेष और आगे प्रकाशित होनेवाली सब पुस्तकें ३/४ मूल्यमें दी जायँगी।

(२) स्थिर ग्राहकोंको इस ग्रन्थमालामें प्रकाशित होनेवाली हर एक पुस्तक खरीदनी होगी। जो पुस्तक इस विभाग द्वारा छापी जायगी, वह एक विद्वानोंकी कमेटी द्वारा पसन्द करा ली जायगी।

(३) हर एक ग्राहक अपना नम्बर लिखकर या दिखाकर हमारे कार्यालयसे अथवा जहां वह रहता हो वहां हमारी शाखा हो, तो वहांसे स्वल्प मूल्यपर पुस्तकें खरीद सकेगा।

(४) जो धर्मसभा इस धर्मकार्यमें सहायता करना चाहें और जो सज्जन इस ग्रंथमालाके स्थायी ग्राहक होना चाहें, वे नीचे पतेपर पत्र भेजनेकी कृपा करें।

धर्मकल्पद्रुम।

श्रीस्वामी दयानन्द-विरचित।

यह हिन्दुधर्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रंथ है। हिन्दु जातिकी पुनरुन्नतिके लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयोंकी जरूरत है, उनमेंसे सबसे बड़ी भारी जरूरत एक ऐसे धर्मग्रंथ की थी कि, जिसके अध्ययन अध्यापनके द्वारा सनातनधर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अंग-उपांगोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथही साथ वेदों और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानोंका यथाक्रम स्वरूप जिज्ञासुको भली भांति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको दूर करनेके लिए भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्रीभारतधर्ममहामण्डलस्थ उपदेशक-महाविद्यालयके दर्शनशास्त्रके अध्यापक श्रीमान् स्वामी दयानन्दजी महाराजने इस ग्रंथका प्रणयन करना प्रारम्भ किया है। इसमें वर्तमान समयके आलोच्य सभी विषय विस्तृतरूपसे दिये जायंगे। अबतक इसके सात खण्डोंमें जो अध्याय प्रकाशित हुए हैं, वे ये हैं:—धर्म, दानधर्म, तपोधर्म, कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ, ज्ञानयज्ञ, महायज्ञ, वेद, वेदांग, दर्शनशास्त्र [वेदोपांग], स्मृतिशास्त्र, पुराणशास्त्र, तन्त्रशास्त्र, उपवेद, ऋषि और पुस्तक, साधारणधर्म और विशेषधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीधर्म (पुरुषधर्मसे नारीधर्मकी विशेषता), आर्यजाति, समाज और नेता, राजा और प्रजाधर्म, प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म, आपद्धर्म, भक्ति और योग, मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग, गुरु और दीक्षा, वैराग्य और साधन,

आत्मतत्त्व, जीवतत्त्व, प्राण और पीठतत्त्व, सृष्टिस्थितिप्रलयतत्त्व, ऋषि देवता और पितृतत्त्व, अवतारतत्त्व, मायातत्त्व, त्रिगुणतत्त्व, त्रिभावतत्त्व, कर्मतत्त्व, मुक्तितत्त्व, पुरुषार्थ और वर्णाश्रमसमीक्षा, दर्शनसमीक्षा, धर्मसम्प्रदायसमीक्षा, धर्मपंथसमीक्षा और धर्ममत-समीक्षा। इस ग्रन्थसे आजकल अशास्त्रीय और विज्ञानरहित धर्मग्रंथों और धर्मप्रचारके द्वारा जो हानि हो रही है, वह सब दूर होकर यथार्थरूपसे सनातन वैदिक धर्मका प्रचार होगा। इस ग्रंथ-रत्नमें साम्प्रदायिक पक्षपातका लेशमात्र भी नहीं है और निष्पक्ष-रूपसे सब विषय प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे सकल प्रकारके अधिकारी कल्याण प्राप्त कर सकें। इसमें और भी एक विशेषता यह है कि, हिन्दुशास्त्रके सभी विज्ञान शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियों-के सिवाय आजकलकी पदार्थविद्या (Science) के द्वारा भी प्रति-पादित किये गये हैं, जिससे आजकलके नवशिक्षित पुरुष भी इससे लाभ उठा सकें। इसके सातखण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम खण्डका मूल्य २) द्वितीयका १॥) तृतीयका २), चतुर्थका २), पंचम-का २), षष्ठका १॥) और सप्तम खण्डका २) है। इसके प्रथम दो खण्ड बढ़िया कागजपर भी छापे गये हैं और दोनों ही एक बहुत सुन्दर जिल्दमें बांधे गये हैं। मूल्य ५) है।

प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत।

श्रीस्वामी दयानन्द-सम्पादित।

इस ग्रंथमें आर्य्यजाति आदिका वासस्थान, उन्नतिका आदर्श-निरूपण, शिक्षादर्श, आर्य्यजीवन, वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदि विषय वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ वर्णन किये गये हैं। यह ग्रन्थ धर्मशिक्षाके अर्थ बी० ए० क्लासका पाठ्य है। मूल्य प्रथम खण्डका २), द्वितीय खण्डका २)।

नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत।

श्रीस्वामी दयानन्द-सम्पादित

भारतका प्राचीन गौरव और आर्य्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है। इसका द्वितीय संस्करण, परिवर्द्धित और सुन्दर होकर छप चुका है। यह ग्रन्थ भी बी० ए० क्लासका पाठ्य है। मूल्य १)

साधनचन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

इसमें मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों योगोंका संक्षेपमें अति सुन्दर वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ प्रथम वार्षिक एफ० ए० क्लासका पाठ्य है। मूल्य १॥)

शास्त्रचन्द्रिका ।

अज्ञाननाशिनी और ज्ञानजननीको विद्या कहते हैं। विद्या दो भागमें विभक्त है, एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या। गुरु-मुखसे प्राप्त होनेवाली ब्रह्मविद्या परा विद्या कहलाती है। परा विद्या ग्रन्थोंसे नहीं प्रकाशित होती, परन्तु ग्रन्थोंसे प्रकाशित होने वाली विद्याको अपरा विद्या कहते हैं। अपरा विद्या भी पुनः दो भागोंमें विभक्त है, यथा लौकिक विद्या और पारलौकिक विद्या। शिल्पकला, वाणिज्य, पदार्थविद्या, साइन्स, राजनीति, समाजनीति, युद्धविद्या, चिकित्साविद्या आदि सब लौकिक विद्याके अन्तर्गत हैं और वेद और वेदसम्मत दर्शन पुराणादि शास्त्र सब पारलौकिक विद्या के अन्तर्गत माने गये हैं। पारलौकिक विद्याके दिग्दर्शनार्थ यह ग्रन्थ इस विचारसे बनाया गया है कि, जिससे विद्यार्थियोंको धर्मशिक्षा प्राप्त करनेमें सहायता प्राप्त हो सके। स्कूल, कालेज, पाठशाला आदिके विद्यार्थियोंको तथा गृहमें बालकोंको धर्मशिक्षाके निमित्त हिन्दुजातिकी विराट् धर्मसभा श्रीभारतधर्ममहामण्डलके साधु तथा विद्वानोंकी सहायतासे अनेक ग्रंथ प्रणीत होकर प्रकाशित हुए हैं यथा—सदाचार सोपान, धर्मप्रश्नोत्तरी, धर्मसोपान, चरित्रचंद्रिका, नीतिचन्द्रिका, आचारचंद्रिका, नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत, साधन-चंद्रिका, प्रवीणदृष्टिमें नवीन भारत इत्यादि। उसी धर्मशिक्षालक्ष्य-को सामने रखकर यह ग्रन्थ भी प्रणीत हुआ है। इसके द्वारा स्कूल कालेज, पाठशालाओंके कार्य्यकर्त्तागण तथा बालकोंके माता-पिता-गण बालकोंको धर्मशिक्षा देकर लाभवान् होंगे। मूल्य १॥)

धर्म्मचंद्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द-विरचित ।

एट्रेंस क्लासके बालकोंके पठनोपयोगी उत्तम धर्मपुस्तक है। इसमें सनातनधर्मका उदार सार्वभौम स्वरूप वर्णन, यज्ञ,

दान, तप आदि धर्माङ्गोंका विस्तृत वर्णन वर्णधर्म, आश्रम-धर्म, नारीधम, आर्य्यधर्म, राजधर्म, तथा प्रजाधर्मके विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है । कर्मविज्ञान, सन्ध्या, पञ्चमहायज्ञ आदि नित्य कर्मोंका वर्णन, षोड़श संस्कारोंके पृथक् पृथक् वर्णन और संस्कारशुद्धि तथा क्रियाशुद्धि द्वारा मोक्षका यथार्थ मार्गनिर्देश किया गया है । इस ग्रन्थके पाठसे छात्रगण धर्मतत्त्व अवश्य ही अच्छी तरहसे जान सकेंगे । मूल्य १)

आर्य-गौरव ।

श्रीस्वामी दयानन्द-विरचित ।

आर्य्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है । यह ग्रन्थ स्कूली ६ वीं तथा १० वीं कक्षाका पाठ्य है । मूल्य ॥)

आचारचन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द-विरचित ।

यह भी स्कूलपाठ्य सदाचारसम्बन्धीय धर्मपुस्तक है । इसमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिमें निद्राके पहले तक क्या क्या सदाचार किस लिये प्रत्येक हिन्दू सन्तानको अवश्य ही पालने चाहिये, इसका रहस्य उत्तम रीतिसे बताया गया है और आधुनिक समय-के विचारसे प्रत्येक आचारपालनका वैज्ञानिक कारण भी दिखाया गया है । यह ग्रन्थ बालकोंके लिये अवश्य ही पाठ करने योग्य है । यह स्कूलकी ८ वीं कक्षाका पाठ्य है । मूल्य ॥)

नीतिचन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

मानवीय जीवनका उन्नत होना नीतिशिक्षापर ही अवलम्बित होता है । कोमलमति बालकोंके हृदयोंपर नीतितत्त्व खचित करनेके उद्देश्यसे यह पुस्तिका लिखी गई है । इसमें नीतिकी सब बातें ऐसी सरलतासे समझाई गई हैं कि, इसी एकके ही पाठसे नीति-शास्त्रका ज्ञान हो सकता है । यह स्कूलकी ७ वीं कक्षाका पाठ्य है । मूल्य ॥)

चरित्रचंद्रिका ।

सम्पादक पं० गोविंदशास्त्री दुगवेकर ।

इस ग्रन्थमें पौराणिक, ऐतिहासिक और आधुनिक महापुरुषोंके

सुन्दर मनोहर विचित्र चरित्र वर्णित हैं। यह ग्रन्थ स्कूलकी ६ ठीं कक्षाका पाठ्य है। प्रथम भागका मूल्य १) और दूसरे भागका १।)

धर्मप्रश्नोत्तरी।

श्रीस्वामी दयानन्द-विरचित।

सनातनधर्मके प्रायः सिद्धान्त अतिसंक्षिप्त रूपसे इस पुस्तिकामें लिखे गये हैं। प्रश्नोत्तरोंकी प्रणाली ऐसी सुन्दर रक्खी गई है कि, छोटे बच्चे भी धर्मतत्त्वोंको भलीभांति हृदयङ्गम कर सकेंगे। भाषा भी अति सरल है। यह ग्रंथ स्कूलकी ४ थी कक्षाका पाठ्य है। कागज़ और छपाई बढ़िया होनेपर भी मूल्य केवल ।) मात्र है।

परलोकरहस्य।

श्रीमान् स्वामी दयानन्द-विरचित।

मनुष्य मरकर कहां जाता है, उसकी क्या गति होती है, इस विषय पर वैज्ञानिक युक्ति शास्त्रीय प्रमाणोंके विस्तृतरूपसे वर्णन है। मूल्य ।)

चतुर्दशलोकरहस्य।

श्रीमान् स्वामी दयानन्द-विरचित।

स्वर्ग और नरक कहां और क्या वस्तु है, उनके साथ हमारे इस मृत्युलोकका क्या सम्बन्ध है इत्यादि विषय शास्त्र और युक्तिके साथ वर्णन किये गये हैं। आजकल स्वर्ग नरक आदि लोकोंके विषयमें बहुत संशय फैल रहा है। श्रीमान् स्वामीजी महाराजने अपनी स्वाभाविक सरल युक्तियोंके द्वारा चतुर्दश लोकोंका रहस्य वर्णन करते हुए उस संदेहका अच्छा समाधान किया है। मूल्य ।)

सती-चरित्र-चन्द्रिका।

श्रीमान् पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर सम्पादित।

इस पुस्तकमें सीता, सावित्री, गार्गी, मैत्रेयी आदि ४४ सती स्त्रियोंके जीवन चरित्र लिखे गये हैं। मूल्य २)

नित्यकर्म चन्द्रिका।

इस ग्रन्थमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिपर्यन्त हिन्दूमात्रके अनुष्ठान

करने योग्य नित्यकर्म वैदिक तान्त्रिक मन्त्रोंके साथ भलीभांति वर्णित किये गये हैं। मूल्य ।)

धर्मसोपान।

यह धर्मशिक्षाविषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है। बालकोंको इससे धर्मका साधारण ज्ञान भलीभांति हो जाता है। यह पुस्तक क्या बालकबालिका, क्या वृद्ध स्त्री-पुरुष सबके लिये बहुत ही उपकारी है। धर्मशिक्षा पानेकी इच्छा करनेवाले सज्जन अवश्य इस पुस्तकको मंगावें। यह स्कूलकी ५वीं कक्षाका पाठ्य है। मू० ।)

धर्म-कर्म-दीपिका।

इस पुस्तकमें कर्मका स्वरूप, कर्मके भेद, संसारके लक्षण और भेद, वैदिक संस्कारोंका रहस्य, विविध कर्मका वैज्ञानिक स्वरूप, कर्मसंबंधसे मुक्ति, कर्मके साथ धर्मका मिश्र संबंध, धर्मरूप कल्पद्रुमका विस्तृत वर्णन, वर्णाश्रमधर्मकी महिमा और विज्ञान, उपासना रहस्य, उपासनाकी मूलभित्तिरूप पीठरहस्य, धर्म कर्म और यज्ञ शब्दोंका वैज्ञानिक रहस्य और सदाचारका विज्ञान और महत्त्व प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रंथ मूल और सुस्पष्ट हिन्दी अनुवाद सहित शास्त्रीय प्रमाण देकर छापा गया है, यह ग्रंथरत्न प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीके लिये उपादेय है। मूल्य ॥)

सदाचारसोपान।

यह पुस्तक कोमलमति बालक-बालिकाओंको धर्मशिक्षाके लिये प्रथम पुस्तक है। यह स्कूलकी तीसरी कक्षाका पाठ्य है। मूल्य -) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान।

कोमलमति कन्याओंको धर्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। मूल्य -)

ब्रह्मचर्यसोपान।

ब्रह्मचर्य्यव्रतकी शिक्षाके लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। सब ब्रह्मचारी आश्रम, पाठशाला और स्कूलोंमें इस ग्रन्थकी पढ़ाई होनी चाहिये। मूल्य ।) आना।

राजशिक्षासोपान।

राजा महाराजा और उनके कुमारोंको धार्मिक शिक्षा देनेके लिये

यह ग्रंथ बनाया गया है परंतु सर्वसाधारणकी धर्मशिक्षाके लिये भी यह ग्रंथ बहुत ही उपयोगी है, इसमें सनातनधर्मके अंग और उसके तत्त्व अच्छी तरह बताये गये हैं। मूल्य ≡) तीन आना।

साधनसोपान।

यह पुस्तक उपासना और साधनशैलीकी शिक्षा प्राप्त करनेमें बहुत ही उपयोगी है। इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है। बालक बालिकाओंको पहलेसे ही इस पुस्तकको पढ़ना चाहिये। यह पुस्तक ऐसी उपकारी है कि बालक और वृद्ध समानरूपसे इससे साधन विषयक शिक्षा लाभ कर सकते हैं। मूल्य ।) चार आना।

शास्त्रसोपान।

सनातनधर्मके शास्त्रोंका संक्षेप सारांश इस ग्रन्थमें वर्णित है। सब शास्त्रोंका कुछ विवरण समझनेके लिये प्रत्येक सनातनधर्माव-लम्बीके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। मूल्य ।) चार आना।

धर्मप्रचारसोपान।

यह ग्रन्थ धर्मोपदेश देनेवाले उपदेशक और पौराणिक पंडितों-के लिये बहुत ही हितकारी है। मूल्य ≡) आना।

उपदेशपारिजात।

यह संस्कृत गद्यात्मक अपूर्व ग्रन्थ है। सनातनधर्म क्या है, धर्मोपदेश किसको कहते हैं, सनातनधर्मके सब शास्त्रोंमें क्या क्या विषय हैं, धर्मवक्ता होनेके लिये किन किन योग्यताओंके होनेकी आवश्यकता है, इत्यादि अनेक विषय इस ग्रन्थमें हैं। संस्कृत विद्वान्मात्रको पढ़ना उचित है और धर्मवक्ता, धर्मोपदेशक, पौरा-णिक परिडत आदिके लिये तो यह ग्रन्थ सब समय साथ रखने योग्य है मूल्य ॥) आना।

कल्किपुराण।

कल्कि पुराणका नाम किसने नहीं सुना है? इस कलियुगमें कल्कि महाराज अवतार धारण कर दुष्टोंका संहार करेंगे, उसका पूर्ण वृत्तान्त है। विशुद्ध हिन्दी अनुवाद और विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। धर्मजिज्ञासुमात्रको इस ग्रंथको पढ़ना उचित है। मूल्य १॥)

योगदर्शन ।

हिन्दी भाष्य सहित । इस प्रकारका हिन्दी भाष्य और कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है । सब दर्शनोंमें योगदर्शन सर्ववादिसम्मत दर्शन है और इसमें साधनके द्वारा अन्तर्जगत्के सब विषयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करा देनेकी प्रणाली रहनेके कारण इसका पाठन और भाष्य एवं टीका निर्माण वही सुचारुरूपसे कर सकता है, जो योगके क्रिया सिद्धांशका पारगामी हो । इस भाष्यके निर्माणमें पाठक उक्त विषयकी पूर्णता देखेंगे । प्रत्येक सूत्रका भाष्य प्रत्येक सूत्रके आदिमें भूमिका देकर ऐसा क्रमबद्ध बना दिया गया है कि, जिससे पाठकोंको मनोनिवेशपूर्वक पढ़नेपर कोई असम्बद्धता नहीं मालूम होगी और ऐसा प्रतीत होगा कि, महर्षि सूत्रकारने जीवोंके क्रमाभ्युदय और निःश्रेयसके लिये मानो एक महान् राजपथ निर्माण कर दिया है । इसका द्वितीय संस्करण छपकर तैयार है, इसमें इस भाष्यको और भी अधिक सुस्पष्ट, परिवर्द्धित और सरल किया गया है । मूल्य २) दो रुपया ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलरहस्य ।

इस ग्रन्थमें सात अध्याय हैं । यथा-आर्यजातिकी दशाका परिवर्तन, चिंताका कारण, व्याधि निर्णय, औषधिप्रयोग, सुपथ्य-सेवन, बीजरक्षा और महायज्ञसाधन । यह ग्रन्थरत्न हिन्दूजातिकी उन्नतिके विषयका असाधारण ग्रन्थ है । प्रत्येक सनातनधर्माव-लम्बीको इस ग्रन्थको पढ़ना चाहिये । द्वितीयावृत्ति छप चुकी है, इसमें बहुतसा विषय बढ़ाया गया है । इस ग्रन्थका आदर सारे भारतवर्षमें समानरूपसे हुआ है । धर्मके गूढ़तत्त्व भी इसमें बहुत अच्छी तरहसे बताये गये हैं । इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है । मूल्य १।)

निगमागमचंद्रिका ।

प्रथम, द्वितीय, पञ्चम और षष्ठ भाग धर्मानुरागी सज्जनोंको मिल सकते हैं । इन भागोंमें सनातनधर्मके अनेक गूढ़ रहस्य सम्ब-न्धी ऐसे ऐसे प्रबंध प्रकाशित हुए हैं कि आजतक वैसे धर्मसन्बन्धी प्रबंध और कहीं भी प्रकाशित नहीं हुए हैं । जो धर्मके अनेक रहस्य जानकर तृप्त होना चाहें, वे इन पुस्तकोंको मँगावें । प्रत्ये-कका मूल्य १)

भक्तिदर्शन ।

श्रीशाण्डिल्य सूत्रोंपर बहुत विस्तृत हिन्दी भाष्यसहित और एक अतिविस्तृत भूमिका सहित यह प्रणीत हुआ है। हिंदीका यह एक असाधारण ग्रंथ प्रणीत हुआ है। ऐसा भक्तिसम्बन्धी ग्रंथ हिंदीमें पहले प्रकाशित नहीं हुआ था। भगवद् भक्तिके विस्तृत रहस्योंका ज्ञान इस ग्रंथके पाठ करनेसे होता है, भक्तिशास्त्रके समझनेकी इच्छा रखनेवाले और श्रीभगवान्में भक्ति करनेवाले धार्मिकमात्रको इस ग्रंथको पढ़ना उचित है। मूल्य १)

मंत्रयोगसंहिता ।

भाषानुवादसहित। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रंथ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है इसमें मंत्रयोगके १६ अंग और क्रमशः उनके लक्षण, साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। इनमें मंत्रोंका स्वरूप और उपास्यनिर्णय बहुत अच्छा किया गया है और अनर्थकारी साम्प्रदायिक विरोधको दूर करनेके लिये यह एक मात्र ग्रंथ है, नास्तिकोंके मूर्तिपूजा, मंत्रसिद्धि आदि विषयोंमें जो प्रश्न होते हैं, उनका अच्छा समाधान है। मूल्य १)

हठयोगसंहिता ।

भाषानुवादसहित। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें हठयोगके ७ अंग और क्रमशः उनके लक्षण साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही इससे पूरा लाभ उठा सकते हैं। मूल्य ॥।)

तत्त्वबोध ।

भाषानुवाद और वैज्ञानिक टीप्पणीसहित। यह मूल वेदान्त ग्रन्थ श्रीशंकराचार्यकृत है। इसका बंगलाअनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। मूल्य =)

स्तोत्र कुसुमाञ्जली ।

इसमें पंचदेवता, अवतार और ब्रह्मकी स्तुतियोंके साथ साथ आजकलकी आवश्यकतानुसार धर्मस्तुति, गंगादि पवित्र तीर्थोंकी स्तुति, वेदान्तप्रतिपादक स्तुतियां और काशीके प्रधान देवता श्रीविश्वनाथादिकी स्तुतियां हैं। मूल्य ।) आना।

दैवीमीमांसादर्शन प्रथम भाग।

वेदके तीन काण्ड हैं। यथाः—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड ज्ञानकाण्डका। वेदान्तदर्शन, कर्मकाण्डका जैमिनीय-दर्शन तथा भरद्वाजदर्शन और उपासनाकाण्डका यह अंगिरादर्शन है। इसका नाम दैवीमीमांसा दर्शन है। यह ग्रंथ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ था। इसके चार पाद हैं, यथाः—प्रथम रसपाद, इस पादमें भक्तिका विस्तारित विज्ञान वर्णित है। दूसरा सृष्टिपाद तीसरा स्थितिपाद और चौथा लयपाद, इन तीनों पादोंमें दैवीमाया, देवताओंके भेद, उपासनासे मुक्तिकी प्राप्तिका सब कुछ विज्ञान वर्णित है, इस प्रथम भागमें इस दर्शनशास्त्रके प्रथम दो पाद हिंदी अनुवाद और हिंदी भाष्य सहित प्रकाशित हुए हैं। मूल्य १॥) डेढ़ रुपया।

श्रीमद्भगवद्गीता प्रथम खण्ड।

श्रीगीताजीका अपूर्व हिन्दी भाष्य। यह प्रकाशित हो रहा है, जिसका प्रथम खण्ड, जिसमें प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्यायका कुछ हिस्सा है, प्रकाशित हुआ है। आजतक श्रीगीताजीपर अनेक संस्कृत और हिन्दी भाष्य प्रकाशित हुए हैं। परन्तु इस प्रकारका भाष्य आजतक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। गीताका अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी त्रिविध स्वरूप, प्रत्येक श्लोकका त्रिविध अर्थ और सब प्रकारके अधिकारियोंके समझने योग्य गीता-विज्ञानका विस्तारित विवरण इस भाष्यमें मौजूद है। मूल्य १)

सप्त गीताएँ।

पञ्चोपासनाके अनुसार पाँच प्रकारके उपासकोंके लिये पाँच गीताएँ—श्रीविष्णुगीता, श्रीसूर्य्यगीता, श्रीशक्तिगीता, श्रीधीशगीता और श्रीशम्भुगीता एवं संन्यासियोंके लिये संन्यासगीता और साधकोंके लिये गुरुगीता भाषानुवाद सहित छप चुकी हैं। श्रीभारतधर्ममहामण्डलने इन सात गीताओंका प्रकाशन निम्नलिखित उद्देश्योंसे किया है:—१म, जिस साम्प्रदायिक विरोधने उपासकोंको धर्मके नामसे अधर्म सञ्चित करनेकी अवस्थामें पहुंचा दिया है, जिस साम्प्रदायिक विरोधने उपासकोंको अहंकारत्यागी होनेके स्थानमें घोर साम्प्रदायिक अहंकारसम्पन्न बना दिया है, भारतकी

वर्तमान दुर्दशा जिस साम्प्रदायिक विरोधका प्रत्यक्ष फल है और जिस साम्प्रदायिक विरोधने साकार उपासकोंमें घोर द्वेषदावानल प्रज्वलित कर दिया है, उस साम्प्रदायिक विरोधका समूल उन्मूलन करना और २य, उपासनाके नामसे जो अनेक इंद्रियासक्तिकी चरितार्थताके घोर अनर्थकारी कार्य होते हैं उनका समाजमें अस्तित्व न रहने देना तथा ३य, समाजमें यथार्थ भगवद्भक्तिके प्रचार द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्तिमें अनेक सुविधाओंका प्रचार करना इन सातों गीताओंमें अनेक दार्शनिक तत्त्व, अनेक उपासनाकाण्डके रहस्य और प्रत्येक उपास्यदेवकी उपासनासे संबंध रखनेवाले विषय सुचारुरूपसे प्रतिपादित किये गये हैं। ये सातों गीताएँ उपनिषद्रूप हैं। प्रत्येक उपासक अपने उपास्यदेवकी गीतासे तो लाभ उठावेगा ही, किन्तु अन्य चार गीताओंके पाठ करनेसे भी वह अनेक उपासना तत्त्वोंको तथा अनेक वैज्ञानिक रहस्योंको जान सकेगा और उसके अन्तःकरणमें प्रचलित साम्प्रदायिक ग्रन्थोंसे जैसा विरोध उदय होता है वैसा नहीं होगा, वह परम शान्तिका अधिकारी हो सकेगा। संन्यासगीतामें सब साम्प्रदायिक साधु और संन्यासियोंके लिये सब जानने योग्य विषय सन्निविष्ट हैं। संन्यासिगण इसके पाठ करनेसे विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। गृहस्थोंके लिये भी यह ग्रंथ धर्मज्ञानका भण्डार है। श्रीमहामण्डल प्रकाशित गुरुगीताके सदृश ग्रंथ आज तक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें गुरुशिष्यलक्षण, उपासनाका रहस्य और भेद, मंत्र हठ लय और राजयोगोंके लक्षण और अंग एवं गुरुमाहात्म्य, शिष्यकर्तव्य, परम तत्त्वका स्वरूप और गुरुशब्दार्थ आदि सब विषय स्पष्टरूपसे हैं। मूल स्पष्ट सरल और सुमधुर भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित यह ग्रंथ छपा है। गुरु और शिष्य दोनोंके लिये यह उपकारी ग्रन्थ है। इसका अनुवाद बंगला भाषामें भी छप चुका है। पाठक इन सातों गीताओंको मंगाकर देख सकते हैं यह छप चुकी हैं। विष्णुगीताका मूल्य १) सूर्य्यगीताका मूल्य ॥) शक्तिगीताका मूल्य १) धीशगीताका मूल्य ॥) शम्भुगीताका मूल्य १) संन्यासगीताका मूल्य १) और गुरुगीताका मूल्य ।) है। इनमेंसे पंचोपासनाकी पांच गीताओंमें एक एक तीनरंगा विष्णुदेव, सूर्य्यदेव, भगवती,

गणपतिदेव, तथा शिवजीका चित्र भी दिया गया है। शम्भुगीतामें वर्णाश्रमबंध नामक चित्र भी देखने योग्य है।

श्रीरामगीता।

श्रीमहर्षि वशिष्ठकृत तत्त्वसारायणमें कथित यह श्रीरामगीता है। परमधार्मिक विद्वान् स्वर्गवासी भारतधर्म-सुधाकर श्रीमहारावलजी साहब सर विजयसिंहजी बहादुर के० सी० आई० ई० डूँगरपूर राज्याधिपतिके पुरुषार्थ द्वारा इसका सुललित हिंदी भाषामें अनुवाद हुआ है और विस्तृत वैज्ञानिक टिप्पणियोंके द्वारा इसके दुरूह विषयोंका स्पष्टीकरण किया गया है। इन टिप्पणियोंके महत्त्वको सब दर्शनोंका ज्ञाता और सब योगोंका अभ्यासी समझकर आनन्दित हो सकता है, क्योंकि इसमें सब तरहके विषय आये हैं। इसके आदिमें श्रीरामचन्द्रजीके मर्यादापुरुषोत्तम अवतारकी लीलाओंका विशद रहस्य प्रकाशित किया गया है। इस पुस्तकमें श्रीरामचन्द्र, सीता और हनुमान् आदिके कई त्रैवर्णिक चित्र भी दिये गये हैं। कागज, छपाई तथा जिल्द आदि उत्कृष्ट हैं। श्रीमहामण्डलके शास्त्र-प्रकाश-विभागके संपादकत्त्वमें यह ग्रन्थरत्न प्रकाशित हुआ है इसमें अयोध्यामण्डपादिवर्णन, प्रमाणसारविवरण, ज्ञानयोगनिरूपण, जीवन्मुक्तिनिरूपण, विदेहमुक्तिनिरूपण, वासना क्षयादिनिरूपण, सप्तभूमिका निरूपण, समाधिनिरूपण, वर्णाश्रमव्यवस्थापन, कर्मविभागयोगनिरूपण, गुणत्रयविभागयोगनिरूपण, विश्वरूप निरूपण, तारकप्रणवविभागयोग, महावाक्यार्थविवरण, नवचक्रविवेक योगनिरूपण, अणिमादि सिद्धि दूषण, विद्या-संतति-गुरुतत्त्व निरूपण और सर्वाध्याय संगति निरूपण आदि विषय है। प्रस्तुत पुस्तकका मूल्य केवल २॥) है।

श्रीगोस्वामीतुलसीदासजीका रामायण।

श्रीगोस्वामीजीकी हस्तलिखित पुस्तकके साथ मिलाकर संपूर्ण विशुद्धरूपसे छपाया गया है। हम दावेके साथ कह सकते हैं कि, इसके मुकाबिलेकी पुस्तक बाजारमें नहीं मिलेगी। इसमें कठिन कठिन शब्दोंका अर्थ इस तरहसे दिया गया है कि, बिना किसीके सहारे—औरतें, बालक, बुडढे आदि सभी कोई अच्छी तरह कठिन कठिन भावोंको समझ ले सकते हैं और भी इसकी विशेषता यह है

कि, इस तरहकी टिप्पणियाँ इसमें दी गयी हैं कि, जिनको पढ़नेसे सनातनधर्मकी सब बातें समझमें आजावेंगी। धर्मसम्बन्धीय सब तरहकी शंकाओंका समाधान भलीभाँति हो जायगा इसकी छपाई, कागज वगैरह बहुत ही उत्तम और सुदृश्य है और केवल प्रचारके लिये ही मूल्य भी स्वल्पमात्र रक्खा गया है।

गीतार्थचंद्रिका।

श्रीस्वामी दयानन्द-विरचित।

श्रीस्वामीजीकी विद्वत्ता किसीसे छिपी नहीं है। उन्होंने बहुत ही परिश्रमके साथ गीतापर यह अपूर्व टीका लिखी है। केवल हिंदी भाषाके जाननेवाले भी इसके द्वारा गीताके गूढ़ रहस्यको जान सकें, इसी लक्ष्यसे यह टीका लिखी गयी है। इसमें श्लोकके प्रत्येक शब्दका हिंदी अनुवाद, समस्त श्लकोका सरल अर्थ और अन्तमें एक अतिमधुर चंद्रिका द्वारा श्लोकका गूढ़ तात्पर्य बतलाया गया है। इसमें किसीका आश्रय न लेकर ज्ञान, कर्म, और उपासना तीनोंका सामञ्जस्य किया गया है। भाषा अतिसरल तथा मधुर है। इस ग्रन्थके पाठ करनेसे गीताके विषयमें कुछ भी जाननेको बाकी नहीं रह जाता। हिंदी भाषामें ऐसी अपूर्व गीता अबतक निकली ही नहीं है। पद्मनाभमुखनिःसृत गीतामृतका अवश्य पान कीजिये। मूल्य प्रथम खण्डका १।) द्वितीय खण्डका १।)

सनातनधर्म-दीपिका।

श्रीस्वामी दयानन्द-विरचित।

इसमें १ धर्म, २ नित्यकर्म, ३ उपासना, ४ अवतार, ५ श्राद्धतर्पण, ६ यज्ञोपवीतसंस्कार, ७ वेद और पुराण, ८ वर्णधर्म, ६ नारीधर्म, १० शिक्षादर्श और ११ उपसंहारशीर्षक निबंध लिखकर श्रीस्वामीजीने बड़ी ही सरल भाषामें सनातनधर्मके मौलिक सिद्धान्त समझा दिये हैं। यह पुस्तक अंगरेजी स्कूलोंकी दशम श्रेणीके विद्यार्थियोंके धर्मशिक्षा देनेके उपयोगी बनाई गई है। मूल्य केवल ॥।) बारह आने।

अदर्श-जीवन-संग्रह।

महापुरुषोंके जीवनचरित्रसे भावी सन्तानके चरित्रसंघटनपर बहुत ही प्रभाव पड़ता है। अतः बालकोंको आदर्श महापुरुषोंका

जीवनचरित्र अवश्य पढ़ना चाहिये। प्रस्तुत पुस्तकमें श्रीभगवान् शंकराचार्य, ईसामसीह, गो॰ स्वा॰ तुलसीदास, महाराज युधिष्ठिर महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, महारानी अहल्याबाई, आदि २३ महानुभावों तथा महादेवियोंके जीवनचरित्रका संग्रह किया गया है। इस प्रकार यह अनेक आदर्शोंकी पुष्पमाला है। बालकोंके, लिये अत्युपयोगी है। ऐसी पुस्तकका मूल्य १॥) मात्र है।

बीर बाला अथवा अपूर्व नारी रत्न।

यह एक अत्युपयोगी तथा शिक्षाप्रद सामाजिक उपन्यास है। राज-मद, धन-मद, यौवन-मदसे युक्त मनुष्यके पतन तथा राज-धन-यौवनपूर्ण विवेकयुक्त पुरुषके उत्थानका अति सरल एवं सुललित भाषामें दिग्दर्शन तो कराया ही गया है, इसके साथ ही विपत्ति-ग्रस्त भारतीय नारियोंके साहस, धैर्य्य, पराक्रम, कर्तव्य और प्रेमका अत्युत्तम चित्र खींचा गया है। इसके अतिरिक्त लेखकने जगत् विख्यात शेक्सपियरके "Two Gentlemen of Verora" तथा "Twelfth Night"के पात्रोंसे भी अधिक इसकी नायिकाको कौशल-पूर्ण दिखलाकर अपनी कौशलताका परिचय दिया है। उपन्यासके आरम्भ करनेपर बिना समाप्त किये उसे छोड़नेको जी नहीं चाहता १७० पृष्ठकी पुस्तकका मूल्य केवल ॥।) मात्र है।

कल्पलतिका बाल-चिकित्सा।

आजकल बच्चे कमजोर तो होते ही हैं, अनेक रोगोंसे सदैव ग्रसित रहते हैं। निपढ़ माताओंके होनेसे उनकी औषधि भी ठीक ठीक नहीं होती। परिव्राजक मैथिल स्वामीकी रचित प्रस्तुत पुस्तकमें प्रायः हर प्रकारके बाल-रोगोंकी विवेचना की गई है और साथ ही बहुत कम कीमत जड़ी बूटीके नुसखे भी बतलाये गये हैं। बिना गुरुके थोड़ी भी हिन्दी जाननेवाले इसके द्वारा बच्चोंकी चिकि-त्सा कर सकते हैं। प्रत्येक माता पिताको यह पुस्तक अपने पास रखनी चाहिये। मूल्य।) मात्र है।

हिन्दीके जरियेसे बंगला सीखनेकी उत्तम पुस्तक

सरल बंगला शिक्षा।

पं॰ गोपालचन्द्र चक्रवर्ती वेदान्तशास्त्री प्रणीत।

हिन्दी भाषाभाषियोंमें बंगला सीखनेके लिये उत्कट आकांक्षा

देखी जाती है। उसकी पूर्तिके लिये यह पुस्तक लिखी गयी है। यह पुस्तक ५ खण्डोंमें पूर्ण है। प्रथम खण्डमें "वर्णपरिचय", और "अनुवाद", द्वितीय खण्डमें "शब्दमाला", तृतीय खण्डमें "व्याकरण", चतुर्थ खण्डमें "कथित भाषा" और पञ्चम खण्डमें "मुहावरा" और "कहावत" दिये गये हैं। इस एक ही पुस्तकके पढ़नेसे बंगला पढ़ना, लिखना और बोलना बिना किसीकी सहायता लिये ही आसानीसे आ जायगा। २६८ पृष्ठकी पुस्तकका नाम मात्र मूल्य १) है

त्रिवेदीय सन्ध्या।

पं० राधिकाप्रसाद वेदान्तशास्त्री प्रणीत।

इसमें तीनों वेदकी सन्ध्या दी गई है। हर एक मन्त्रका हिन्दीमें अन्वय और विशुद्ध सरल हिन्दी भाषामें अनुवाद किया गया है। सन्ध्या क्यों की जाती है, सन्ध्याका स्वरूप क्या है? उपासनाकी रीतिसे सन्ध्याके द्वारा अपने अपने जीवनको कैसे उन्नत कर सकते हैं. सन्ध्याके द्वारा कैसे आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक त्रिविध प्रकारकी उन्नति हो सकती है, सन्ध्या किस समय की जाती है और कैसे की जाती है! सन्ध्या न करनेसे क्या क्या हानि होती है, प्राणायामका स्वरूप क्या है! और कैसे किया जाता है! गायत्रीका रहस्य क्या है! प्रणवका विस्तृत स्वरूप और विज्ञान क्या है! सन्ध्याका वैज्ञानिक तात्पर्य क्या है! गायत्री जप करनेका विधान क्या है? इस प्रकारसे सन्ध्यासम्बन्धीय सब बातें युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणोंसे सिद्ध की गई हैं। इसके साथ साथ गायत्री-शापोद्धार, गायत्रीकवच और गायत्री-हृदय भी सानुवाद दिया गया है। इसकी विशेषता यह है कि, इस पुस्तकके देखनेसे बिना किसीसे पूछे आप ही आप सन्ध्याका काम ठीक तरहसे कर सकेंगे और सन्ध्याके विषयमें जो कुछ शंकाएं हो सकती हैं सबका भलीभांति समाधान हो जायगा। हम गर्वके साथ कह सकते हैं कि, इसके द्वारा हिन्दु जनताका महान् उपकार होगा। इस प्रकारकी किताब अभीतक बाजारमें नहीं मिलेगी। यह बिलकुल ही नूतन और देशकालोपयोगी है। मूल्य ॥) आने।

निगमागम बुकडिपो,
भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेड,
स्टेशनरोड, बनारस।

"THE WORLDS ETERNAL RELIGION."

A Unique work on Hinduism in one volume, containing 24 Chapters with tricolour illustrations, glossary, etc. No work has hitherto appeared in English that gives in a suggestive manner the real exposition of the Hindu religion in all its phases. The book has prefectly supplied this longfelt want. Names of the chapters are as follows :—1. Foreword, 2. Universal Religion, 3. Classification of Religion, 4. Law of Karma, 5. Worship in all its phases, 6. Practice of Yoga through Mantras, 7. Practice of Yoga through physical exercise, 8. Practice of Yoga through finer force of Nature, 9. Yoga through power of reasoning, 10. The Mystic Circle, 11. Love and Devotion, 12. Planes of knowledge, 13. Time, space, creation, 14, the Occult world 15. Evolution and Reincarnation, 16, Hindu philosophy, 17. The System of Castes and Stages of Life, 18 Woman's Dharma. 19. Image Worship, 20. The great Sacrifices, 21. Hindu Suriptures, 22. Liberation, 23, Education, 24, Reconciliation of all Religions, The followers of all religions in the world will profit by the light the work is intended to give. Price cloth bound, Superior edition Rs. 5 Ordinary edition Rs. 3, Postage extra.

THE BHAGAVAT-GITA.

Sanskrit Text and English Translation with a Critical and Concise Commentary.

Distinct Departure from Existing annotations—because it—

(1) Deals with the **Triple significance** of adhyatmic, adhidaivic and adhibhoutic **aspect**—

(2) Gives Practical **Guidance** in **Yogic System** of the Orient.

(3) Wields together the **Eastern and the Western** systems of philosophpical thought.

(4) Deals with the **Spiritualism** and **Spiritism** of the occident.

(5) Contains **Copious Foot-Notes** for comparative study in a **Scientific** spirit.

A BOOK FOR ONE AND ALL.

The Bhagavat-Gita is a book not only for the pious and the philosopher, but also for the politician and the patriot. All our leaders from Lokemanya Mahatma owe their inspiration to this **Holy Book**. As existing works on Gita are either voluminous or uninterestingly abstruse or dialectic,

a handy book expounding in one place the essentials of Gita is a longfelt want to remove which **The Hall of All-Religions** has undertaken the present publication,—for the use of the Savant and Scholar of comparative religions and for ordinary readers too.

In order to reach a wide reading public, the *price of the book is purposely kept low; and a concession rate is offered for all orders registered before its publication.*

Register your name to avoid disappointment—

Manager Nigamagam Book Depot,
"SYNDICATE BUILDINGS,"
Station Road, Benares City.

LIFE AFTER DEATH.

The Promoters of the scheme of the Hall of All-Religions at Benares have undertaken the publication of the above work which will be a comprehensive volume for the comparative study of the Eastern and Western thought on Life after death. The work also treats other allied subjects such as spiritualism of the West and Pith Vigyan that is the science of the mystic circle of the Hindus including all necessary information about the occult world as given in Hindu scriptures. All communcations regarding this work should be made to:—

SECRETARY,
Hall of All-Religions,
Mahamandal Buildings,
Benares.

हिन्दीमें नयी चीज ।

एक ही पुस्तक पासमें रखनेसे सालभरके सब काम निकलेंगे ।

महामण्डल-डाइरेक्टरी ।

(पंचाग सहित)

इसमें निम्नलिखित विषय हैं:—

प्रारम्भिक ।

१—मङ्गलाचरण, २—कालविवरण-(सत्ययुगोत्पत्ति, त्रेतायुगोत्पत्ति, द्वापरयुगोत्पत्ति, कलियुगोत्पत्ति, कलिस्वरूप, तथा माहात्म्य, चौरासी लक्ष योनि और स्थावरादिकी आयु) ३—देश-विवरण (चौदह लोक, ७ द्वीप, ९ खण्ड), ४—वर्षफल (राजाफल, मन्त्रीफल, खेतीके [illegible] फल, [illegible]फल, मेघेशफल, रसेशफल,

जलेशफल, दुर्गेशफल, नागेशफल, वायुफल, वर्षानुमान, आर्द्राप्रवेश-फल, विश्वमान, द्वादशमासोंका फल, द्वादशराशिफल)।

ज्योतिष-विचार।

५—ज्योतिष (तिथि, नक्षत्र, वार, राशि, ग्रह आदिका विचार), ६—विवाहप्रकरण (वरवधूकी नाड़ी गणवश्यादि), ७—यात्रा प्रकरण (उत्तमनक्षत्र, मध्यमनक्षत्र, दिक्शूल, योगिनी, काल वासज्ञान, यात्रिकलग्न, घातचन्द्र इत्यादि), ८—सातवारोंके कर्म, ९—मुहुर्त-प्रकरण (विवाहमुहूर्त, तालाब वृक्षादिके मुहूर्त, विद्यारम्भमुहूर्त आदि), १०—हस्तरेखाफल, ११—दशविध संस्कार, १२—दशकर्म सामग्री, १३—अशौच व्यवस्था, १४—सपिण्ड और समानोदक, १५-गोत्र और प्रवर, १६—पञ्चांग (व्रतोत्सव विधान सहित), १७—गंगास्नानफल, १८—दैनिक महीनेके हिसाब, १९—जन्मतिथि-कृत्य, २०—मुष्टियोग, २१—विविध देवता पूजाविधि, २२—गोत्र व व्रतकथासार, २३—रेलके नियम, २४—पोस्टआफिसके नियम, २५—सालभरकी छुट्टियां २६—पुलिसके कानून, २७—रजिस्टरी आफिसके नियम, २८—कोर्टके नियम, २९—भारतीय नगरोंके अयनांश, ३०—धर्मशास्त्रके कुछ निर्णय, ३१—पूजोपचार, ३२—यज्ञ-सामग्री, ३३—दशकर्म सामग्री, ३४—ऋषि-तर्पण, ३५—पितृतर्पण, ३६—यमतर्पण, ३७—देवतर्पण, ३८—नित्यपितरतर्पण, ३९—प्रसिद्ध तीर्थस्थान, ४०—प्रधान प्रधान तीर्थोंमें ठहरनेके स्थान और उनका रास्ता, ४१—प्रसिद्ध धर्मसभा, धर्मालय, धर्मसंस्था, धार्मिक स्कूल, कालेज और धर्मस्थानोंके नाम, प्रत्येक पर्वोंकी छुट्टियां ४३—प्रत्येक पर्वोंकी विधि, ४४-पञ्चांग (इसमें दैनिक नक्षत्रयोग, करण, चन्द्रफल, घण्टा, मिनट आदि है।)

इसका प्रचार प्रत्येक गृहस्थ, साधु, सन्यासी, राजा महाराजादि-के घरामें हो रहा है। व्यापारियोंको भरपूर कमीशन दिया जायगा। साधारण संस्करणका मूल्य ॥), राज संस्करणका १॥) रुपया।

मिलनेका पता—

भारतधर्मसिण्डिकेट लिमिटेड,

स्टेशनरोड, बनारस।

भारतधर्म्म ।

विश्वबन्धुत्वका उपदेशक, स्वराज्यका प्रतिपादक, हिन्दू संघटनका समर्थक, वर्णाश्रमसंघका सहायक, हिन्दूधर्म्म और हिंदू-जीवनमें जागृति पैदा करने वाला, राष्ट्रीय साप्ताहिक पत्र। वार्षिक चन्दा ३) तीन रुपया।

मैनेजर भारतधर्म्म,
सिण्डिकेटभवन स्टेशन रोड,
बनारस (शहर)

सूर्य्योदय ।

एकमात्र पाक्षिक संस्कृतपत्र जिसको भारतके अनेकों प्रांतीय गवर्नमेण्टों तथा देशी रजवाड़ोंने उत्साह प्रदान किया है। श्रीवाराणसी विद्यापरिषद्के मुखपत्ररूपसे प्रकाशित होता है। संरक्षकोंके लिये पांच रुपया साल और विद्यार्थियोंके लिये केवल बारह आना साल।

मैनेजर सूर्य्योदय।
महामण्डलभवन जगत्गंज,
बनारस (छावनी)

वर्णाश्रम संघ ।

भारतवर्षकी वर्तमान राजनैतिक परिस्थितिके बिचारसे स्वधर्माभिमान, स्वजातीय अभिमान और स्वत्व रक्षापूर्वक वर्णाश्रमधर्मावलम्बी हिन्दू जातिका राजनैतिक अभ्युदय करना इस संघका उद्देश्य है। भारतवर्षके प्रति नगर तथा ग्राममें इस स्वजातीय संघकी सभ्य संख्या वृद्धि करके भारतवर्षके प्रत्येक प्रान्तमें एक एक प्रान्तीय केन्द्र स्थापन करनेका बिचार है। उद्देश्य-पत्रपर हस्ताक्षर करके वर्णाश्रम-धर्म माननेवाले स्त्री-पुरुष मात्र ही इसके सभ्य हो सकते हैं। अभी संघके सभ्योंसे संघका फार्म भरवाया जायगा और उनके पास वर्णाश्रमसंघ नामक पुस्तिका पहुंचाई जायगी।

संघके जो मुखपत्र हिन्दी और अंग्रेजीमें भारतधर्मसिण्डिकेट लिमिटेड- बनारससे निकलते हैं, उनमेंसे एकका लेना संघके प्रतिनिधियों-के लिये आवश्यक होगा।

मंत्री—वर्णाश्रमसंघ,
सिण्डिकेट भवन, स्टेशन रोड, जगत्गंज,
बनारस (शहर)।

वाराणसी विद्या परिषद्।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलका एक धार्मिक विश्वविद्यालय स्थापित करनेका उद्देश्य प्रथमसे ही था। उसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये महामण्डलके संचालकोंने इस परिषद्की स्थापना की है। इसके द्वारा निम्नलिखित परीक्षायें ली जायंगी, जिनके पाठ्यग्रंथ भारत-धर्म-सिण्डिकेट लिमिटेड काशीके निगमागमपुस्तकभण्डार द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। परीक्षा प्रतिवर्ष चैत्र मासमें होगी। (१) उपाध्याय परीक्षा (२) महोपाध्याय परीक्षा। पौरोहित्य परीक्षाके दो विभाग हैं यथा—(३) श्रौतकर्म विशारद परीक्षा और (४) स्मार्त कर्म विशारद परीक्षा। गुरु और आचार्य सम्बन्धीय परीक्षा, यथा—(५) धर्माचार्य परीक्षा और (६) उपदेशक परीक्षा। हिंदी भाषा इस समय भारतवर्षकी राष्ट्रभाषा समझी जाती है, अतः उसकी उन्नतिके लिये जो परीक्षा होगी उसका नाम (७) राष्ट्रभाषा विशारद परीक्षा है। इसके सिवाय (८) स्कूलके छात्रोंके लिये एक परीक्षा (९) कालेजके छात्रोंके लिये एक परीक्षा और एक (१०) धर्मप्रवेशिका परीक्षा होगी।

मन्त्री,
वाराणसी विद्या परिषद्,
महामण्डल भवन, जगत्गंज, काशी।

पुस्तक विक्रेता और प्रकाशकोंको विशेष सुबिधा ।

श्रीभारतधर्म महामण्डलकी सहायतासे दस लाखके मूलधनसे जो भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेड नामक संस्था खोली है उसमें धर्मग्रन्थ प्रकाशन और वेचनेका बहुत अच्छा सुबिधा कर दिया है । जो ग्रन्थकार अपने ग्रन्थको छपवानेमें असमर्थ हैं वह सुविधायुक्त शर्तोंसे छपवा सकते हैं और जो पुस्तकविक्रेता अपनी पुस्तकोंकी विक्री उक्त सिण्डिकेटके बुकडिपो विभागके द्वारा करना चाहैं, वह पुस्तकोंका बदला करके अथवा पुस्तकें बुकडिपो (निगमागम बुकडिपो) में रखकर कर सकता है । पत्रव्यवहार नीचे लिखे पतेसे करना चाहिये ।

मैनेजर, निगमागम बुकडिपो
अथवा
मैनेजर, प्रकाशन विभाग
भारतधर्म–सिण्डिकेट–भवन,
स्टेशनरोड, बनारस सिटी ।

भारतधर्म–प्रेस ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलकी सहायतासे जो दस लाखके मूलधनसे भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेड नामक संस्था खुली है उसका प्रेसविभाग बहुत उन्नत कर दिया गया है । उसके सब तरहकी छपाई और अच्छी बाइण्डिङ्ग आदि सब कामका अनुभव एक बार काम देकर प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है । यह विभाग शीघ्र ही और भी उन्नत किया जायगा ।

मैनेजर, भारतधर्म प्रेस,
भारतधर्म सिण्डिकेट भवन,
स्टेशनरोड, बनारस (शहर) ।

महामण्डलका धर्म्मप्रचार विभाग ।

हिन्दूजातिकी एक मात्र विराट् धर्म्मसभा श्रीभारतधर्ममहामण्डलने अब धर्मप्रचार विभागको बहुत उन्नत कर दिया है। प्रत्येक प्रान्तमें प्रान्तीय केन्द्र सुदृढ़ करके वहांके सैक्रेटरियोंके तत्त्वावधानमें तीन चार धर्मवक्ता और धर्म सेवक देकर जोरोंके साथ धर्मप्रचारका कार्य्य प्रारम्भ कर दिया है। इस धर्म कार्यके द्वारा सारे भारतवर्षमें जागृति होकर अपने धर्म और धार्मिक कर्त्तव्यको हिन्दू प्रजा समझने लगेगी और इस सामाजिक अशान्तिके समयमें अपने आपको बचानेमें समर्थ होगी। जिस सज्जनको इस विषयमें कुछ जानना हो अथवा अपने यहां धर्मप्रचार करानेके अर्थ धर्मवक्ता और धर्मसेवकोंको बुलाना हो वह निम्नलिखित पतेपर पत्र व्यवहार करे।

सेक्रेटरी—धर्मप्रचार-विभाग,
श्रीभारतधर्ममहामण्डल, प्रधान कार्यालय,
जगत्गंज, बनारस।

भारतधर्म सिण्डिकेट ।

यह संस्था श्रीभारतधर्ममहामण्डलके संरक्षकत्वमें शास्त्रप्रकाशन-कार्य्य और वर्णाश्रमधर्मके पक्ष समर्थनके लिये स्थापित हुई है। इसके बुकडीपो, शास्त्रप्रकाशन, प्रेस, महामण्डल-डाइरेक्टरी, समाचार पत्र आदि कई विभाग हैं। भारतमें वर्णाश्रमधर्मावलम्बी हिन्दूजातिका न कोई जातीय बुकडिपो है, न कोई जातीय प्रेस है और न कोई शास्त्रप्रकाशन विभाग है। इसी अभावको दूर करनेके लिये यह संस्था खोली गई है। अभी प्रारम्भिक अवस्थामें ही यह उन्नति कर रही है। इसके दस लाखके शेयरोंमेंसे आधेके करीब शेयर बिक चुके हैं। समाचारपत्र विभागके लिये अलग शेयर रक्खे गये हैं, उनका नाम डिफर्ड शेयर है। इन शेयरोंकी एप्लीकेशन मनी (अर्जीके साथ भेजनेके रुपये) पाते ही उस शेयरहोल्डरके नाम अंग्रेजी साप्ताहिक महाशक्ति और हिन्दी साप्ताहिक भारतधर्म दोनों या दोनोंमेंसे एक भेजना प्रारम्भ हो जाता है। और प्रकारके शेयर भी अभी मिलते हैं। जो सज्जन इस संस्थाके शेयर खरीदकर इस स्वजातीय कार्यमें सहायक बनना चाहे वह निम्नलिखित पतेसे पत्रव्यवहार करे।

सैक्रेटरी—
भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेड,
सिण्डिकेट भवन, स्टेशनरोड,
बनारस (शहर)।